Azim Premji University

अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय
का प्रकाशन

लर्निंग कर्व

हिन्दी अंक 11 : नवम्बर, 2015

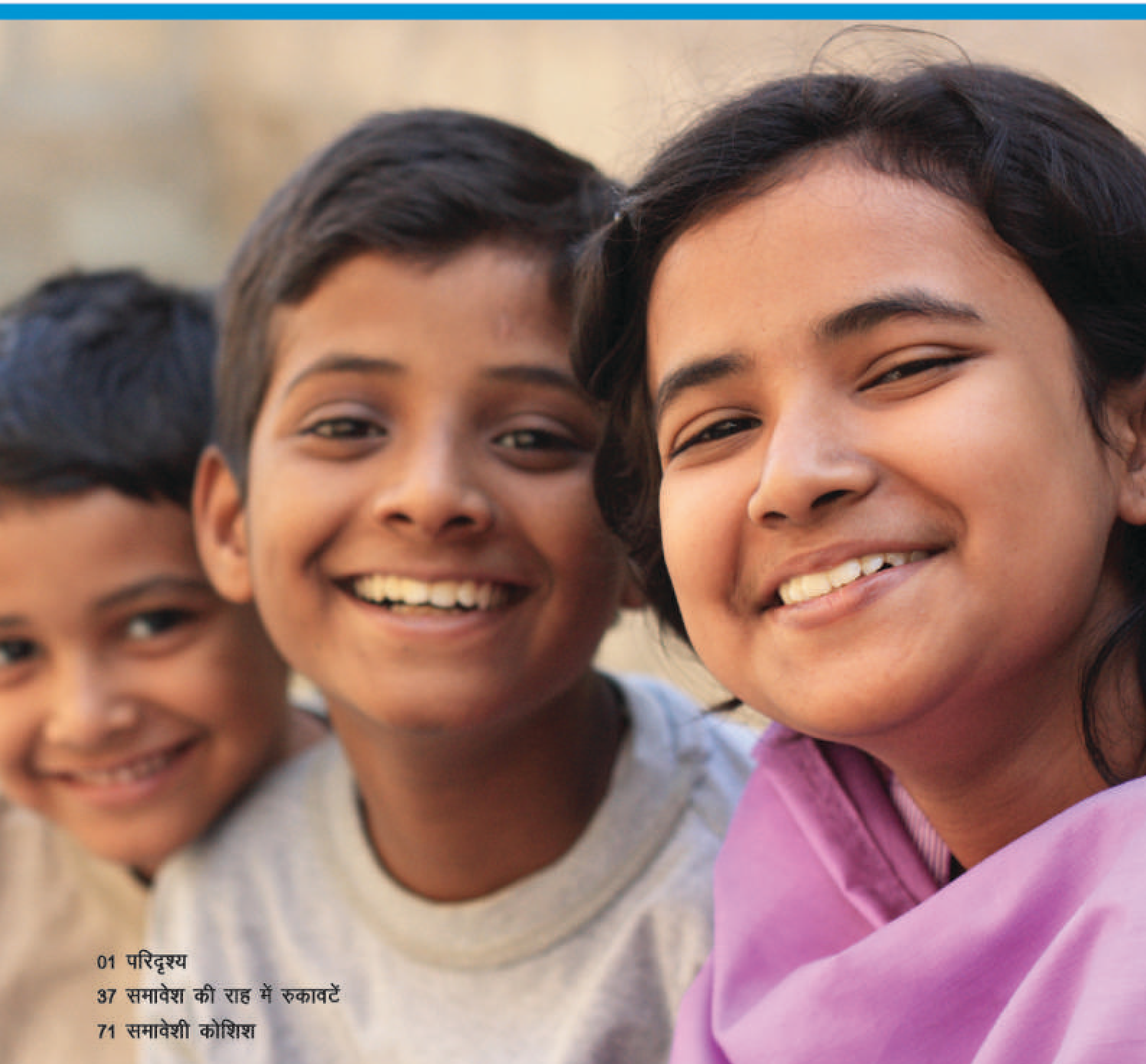

01 परिदृश्य
37 समावेश की राह में रुकावटें
71 समावेशी कोशिश

समावेशी शिक्षा

सम्पादन
चन्द्रिका मुरलीधर
इन्दुमति एस.
मधुमिता सुधाकर
प्रेमा रघुनाथ

सलाहकार
रामगोपाल वल्लत
एस. गिरिधर
उमाशंकर पेरिओडी

इस अंक के विशेष सलाहकार
अंकुर मदान
ज्योत्सना लता बेल्लिअप्पा

हिन्दी अनुवाद
सत्येन्द्र त्रिपाठी
नलिनी रावल
भरत त्रिपाठी

हिन्दी अंक सम्पादन
राजेश उत्साही

आवरण डिजायन
बैनयान ट्री
98458 64765

डिजायन
पेंटागन कम्युनिकेशन प्रा.लि.
+91 080 22212942/946

मुद्रक
SCPL
बेंगलूरु - 560 062
+91 80 2686 0585
+91 98450 42233
www.scpl.net

कृपया ध्यान दें : *इस अंक में प्रकाशित लेख मूलतः लर्निंग कर्व (अँग्रेजी) XXIII, अक्टूबर, 2014 लेखों का हिन्दी अनुवाद है। लेखों में व्यक्त विचार और दृष्टिकोण लेखकों के अपने हैं, उनसे अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन या अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय का सहमत होना आवश्यक नहीं है।*

''लर्निंग कर्व अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय का एक प्रकाशन है। इसका उद्‌देश्य शिक्षकों, शिक्षक–अध्यापकों, स्कूल प्रमुख, शिक्षा अधिकारियों, अभिभावकों और गैर–सरकारी संगठनों तक ऐसे प्रासंगिक और विषयगत मुद्‌दों में पहुँच बनाना है जो उनके रोजमर्रा के काम से सम्बन्धित हैं। लर्निंग कर्व शैक्षिक जगत के विभिन्न दृष्टिकोणों, अभिव्यक्तियों, परिप्रेक्ष्यों, नई जानकारियों और नवाचार की कहानियाँ प्रस्तुत करने के लिए एक मंच प्रदान करता है। इसका मूल विचार 'शैक्षणिक' और 'अभ्यासकर्ता' के मध्य सन्तुलन हेतु उन्मुख पत्रिका के रूप में स्थापित होना है।''

सम्पादक की ओर से

यह तो मनुष्य का स्वभाव है कि वह जीवन की प्रत्येक स्थिति में शामिल होना चाहता है: यह भावना तबसे ही शुरू हो जाती है जब बच्चा पहले–पहल खेल के मैदान में जाता है और अपने आसपास की दुनिया के साथ सामाजिक सम्बन्ध बनाने लगता है। हम अक्सर देखते हैं कि बच्चा/बच्चे किसी गतिविधि या खेल में तल्लीन बच्चों को देखकर मैदान के किनारे पर तब तक बड़े लाचार और उदास से खड़े रहते हैं जब तक उन्हें भी उस समूह में शामिल नहीं कर लिया जाता। जीवन के हर मुकाम पर शामिल किए जाने की यह इच्छा बनी रहती है जैसे कि बड़े होने पर, पहली नौकरी मिलने पर, यहाँ तक कि जीवन पर्यन्त यह इच्छा कायम रहती है।

लेकिन हमारी दुनिया इतनी आदर्श कहाँ है, यहाँ बहिष्करण बड़े पैमाने पर मौजूद है जो सम्प्रदाय, वर्ण, जाति, नस्ल, वर्ग या लिंग जैसी अनेक बातों पर आधारित है। मनुष्य ऐसे विसंगत और तर्कहीन पूर्वाग्रहों के शिकार बन सकते हैं। विडम्बना तो यह है कि जैसे–जैसे सीमाएँ घट रही हैं और "वैश्विक गाँव" जैसे शब्द आम होते जा रहे हैं वैसे–वैसे ये दरारें और गहराती जा रही हैं।

लर्निंग कर्व का यह अंक ऐसे कई पूर्वाग्रहों का जवाब है जो पहले भी अस्तित्व में थे और आज भी मौजूद हैं। इसके अनेक रूप हो सकते हैं और हर देश को इनसे निपटने के लिए अपने खुद के तरीके ढूँढ़ने होते हैं। भारत में हमें जाति, सम्प्रदाय, सामाजिक वर्ग, लिंग और असमर्थता आदि से जुड़े भेदभावों का सामना करना पड़ता है। अतीत में, विभिन्न वर्ग के लोगों को इन्हीं एकाधिक विभाजनकारी ताकतों के आधार पर शिक्षा और रोजगार से वंचित किया जाता था।

लेकिन आज का परिदृश्य हमें आशावादी बनाता है। अब विविधता की अहमियत को समझा जाने लगा है क्योंकि इसके कारण हमें मनुष्यों को बेहतर तरीके से समझने का अवसर मिलता है और हम विविधता को जितना महत्त्व देते हैं उसी से पता चलता है कि विभिन्न अनुभवों का हमारे लिए क्या मोल है। "बिना दीवार की कक्षाएँ" एक ऐसा आदर्श है जिसके बारे में बहुत बातें और चर्चाएँ हो रही हैं लेकिन कई अन्य आदर्शों की तरह यह आदर्श भी ठोस रूप नहीं ले पाया है।

हालाँकि समावेशीकरण एक ऐसी अवधारणा है जिसका सरोकार हम सभी से है क्योंकि किसी भी समूह में "फिट होना" मनुष्य की बुनियादी इच्छा है, लेकिन शारीरिक असमर्थता एक ऐसा फर्क है जो साफ नजर आता है। आज विशेष रूप से असमर्थ बच्चे समावेशीकरण का अवसर पाना चाहते हैं क्योंकि वे भी उत्पादक कार्य–बल का एक हिस्सा बनना चाहते हैं, लेकिन यह भी सच है कि केवल किसी के रोजगार पाने की क्षमता के आधार पर उसकी कीमत नहीं आँकी जा सकती। पहली नौकरी का मिलना बहुत महत्त्वपूर्ण माना जाता है और जब उन्हें वह नहीं मिल पाती तो उसके परिणामस्वरूप नौकरी के अन्य अवसर भी उनकी पहुँच के बाहर हो जाते हैं। इसी प्रकार जाति, सम्प्रदाय, सामाजिक वर्ग और लिंग के कारण पहले स्कूल में, बाद में शिक्षा के उच्च संस्थानों, सामाजिक परिस्थितियों, अवसरों और वैश्विक दृष्टिकोण में भेदभाव होता है और इन सबका प्रभाव व्यक्तित्व पर पड़ता है। हालाँकि हम यह जानते हैं कि मानव मन स्वाभाविक रूप से वर्गीकरण की ओर प्रवृत्त हो जाता है लेकिन यह समझना भी मुश्किल है कि आखिर इस विविधता का जश्न क्यों नहीं मनाया जाता, खासकर तब जब आज की दुनिया सीमारहित है और इण्टरनेट, टीवी तथा लगातार बढ़ती और परिष्कृत तत्काल संयोजकता (कनेक्टिविटी) के कारण भौगोलिक सीमाएँ लुप्त होती जा रही हैं।

आज एक नई दुनिया हमारे सामने है जो इस बात का इंतजार कर रही है कि उसके बारे में नई खोज की जाए और उस पर विजय पाई जाए। हालाँकि हमारी पिछली पीढ़ियों के खोजकर्ता और साहसी लोग बहुत बहादुर थे, लेकिन वे भी ऐसी खोज और विजय के बारे में नहीं सोच सकते थे क्योंकि आज की दुनिया हममें से ज्यादातर लोगों की तरह आम लोगों की ऐसी दुनिया है जो मानव उपलब्धि की सीमाओं को मिटा देना चाहते हैं।

ऐसी स्थिति में लर्निंग कर्व के इस अंक को समावेशी शिक्षा का विशेषांक बनाने का निर्णय लिया गया क्योंकि अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन में हम हर प्रकार की समानता और विविधता को बढ़ावा देने और मानव प्रगति में अवरोधक पूर्वाग्रहों को मिटाने के लिए प्रतिबद्ध हैं। इस अंक में पाठकों को बच्चों के साहित्य पर लेख मिलेंगे जो खासतौर

पर समावेशन पर जोर देते हैं और साथ ही लिंग रूढ़िबद्धता और आर.टी.ई. व स्कूल में समावेशन पर भी लेख हैं।

यहाँ कुछ अन्य दृष्टिकोण भी सामने आते हैं, उदाहरण के लिए मैं सीखने में कठिनाई महसूस करने वाले किशोरों का उल्लेख करना चाहूँगी। उनका एकीकरण मुख्यधारा की स्कूली शिक्षा के साथ होना चाहिए जिससे उन्हें स्कूली वातावरण मिल सके अन्यथा शायद वे स्कूल आना छोड़ दें। सांस्कृतिक मतभेदों का निर्माण करने में पाठ्यपुस्तकों का स्थान और उन्हें दूर करने के उपाय और अवधारणा की दृष्टि से समावेशन तथा एकीकरण के बीच का अन्तर समझना भी आवश्यक है। इस अंक में समावेशन के लिए भाषा शिक्षण तथा शिक्षा और उन्नत सामाजिक गतिशीलता के लिए एक बाधा के रूप में जाति और पाठ्यचर्या के विकास में शिक्षक की तैयारी पर भी लेख हैं।

इनमें से अन्तिम बात विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यदि लाभकारी परिवर्तन लाना है तो उसका केन्द्रबिन्दु एक बुद्धिमान व जागरूक शिक्षक ही होता है।

लेकिन यह सूची पूरी नहीं है, ये तो कुछ चुनिन्दा विचारोत्तेजक और चिन्तनशील लेख हैं। हमने रचनाकारों से अनुरोध किया कि वे मानव प्रगति के इस महत्त्वपूर्ण पहलू पर प्रकाश डालें, जिसके जवाब में हमें ये लेख प्राप्त हुए। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि प्रगति हमारी इस क्षमता पर निर्भर होती है कि हम असमानताओं का कितना सम्मान करते हैं और जीवन को समृद्ध बनाने में उन्हें कितना महत्त्व देते हैं।

अपने विशेष सलाहकारों की मदद के बिना हम इतना समृद्ध अंक नहीं तैयार कर पाते। इस अंक के लिए हमें डॉ. अंकुर मदान और डॉ. ज्योत्सना लता बेल्लिअप्पा का पूरा और अविरत समर्थन मिला। आप दोनों को धन्यवाद!

प्रेमा रघुनाथ
सम्पादक, लर्निंग कर्व
prema.raghunath@azimpremjifoundation.org
अनुवाद : नलिनी रावल

इस अंक में

खण्ड अ
परिदृश्य

समावेश ही आगे बढ़ने का मार्ग है 02
अंकुर मदान

प्रतिभाशाली बच्चों को शिक्षा का अधिकार 06
अनिता कुरुप

सरकारी अनुदान न पाने वाले निजी स्कूलों में समावेश : क्या आर.टी.ई.ने राह दिखाई है? 10
अर्चना मेहेंदले एवं राहुल मुखोपाध्याय

स्कूल शिक्षण में लिंगभेद : कारण तथा परिणाम 15
ज्योत्सना लता बेल्लिअप्पा

सामाजिक न्याय के लिए शिक्षक तैयार करना : कर्नाटक का एक अनुभव 18
मैथिली रामचन्द

शिक्षा का अधिकार अधिनियम और समावेशी तथा भेदभाव मुक्त स्कूल 22
नदीम अली हैदर खान

भारतीय जाति व्यवस्था और वंचित तथा कमजोर वर्गों के लिए शिक्षा में चुनौतियाँ 27
पी. एस. कृष्णन

कौन तय करता है कि मेरी जगह कहाँ है? 34
रितिका चावला

खण्ड ब
समावेश की राह में रुकावटें

शिक्षा में समावेश की राह में रुकावटें 38
ऐनी जॉन

किशोरियों द्वारा बीच में स्कूल छोड़ देने के कारण 42
सिन्थिया स्टीफेन

सामाजिक समावेश और बहिष्करण : मेरे अनुभव 46
दीपिका के. सिंह

हाशिए पर रहने वाले बच्चों को 'हाशियाबन्दी' पढ़ाना 50
फ़राह फ़ारूक़ी

विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों में समावेश 55
एस. इन्दुमति

समावेशी शिक्षा नीति के क्रियान्वयन में समस्याएँ : अल्मोड़ा के लमगारा ब्लाक का अवलोकन 59
जयश्री पाण्डे

भिन्न प्रकार की क्षमताओं वाले बच्चों को शामिल करना 62
रेमादेवी

निष्पक्षता का केन्द्रीकरण, विविधता का उत्सव : शैक्षणिक व्यवस्था में समावेशन 66
वन्दना महाजन

खण्ड स
समावेशी कोशिशें

चलो, साथ चलें: समावेशन के लिए कुछ रणनीतियाँ 72
जेन साही और वनमाला विश्वनाथ

मुख्यधारा की कक्षाओं में विशिष्ट अधिगम अशक्तता 76
नीना डेविड

साउथपॉइंट विद्याश्रम में समावेशी शिक्षा 80
नीता कुमार

हांगकांग से एक नवाचार 83
अनुराधा नायडू

संसाधन कक्ष बनाम बाह्य समर्थन 85
रीना रयाल

मददगार हाथ : समावेशन का एक अलग दृष्टिकोण 88
सरला मोहन राज

शैक्षिक अधिकार और शिक्षण की चुनौतियाँ :
समावेशन और उसका तरीका 90
सिद्धि व्यास

बाल साहित्य में समावेशन की सम्भावनाओं की खोज 94
उषा मुकुन्दा

मुझे भी शामिल कीजिए! 98
विजया महादेवन

खण्ड अ

परिदृश्य

समावेश ही आगे बढ़ने का मार्ग है

अंकुर मदान

यह कहना गलत नहीं होगा कि अक्षमताओं से ग्रस्त बच्चों की शिक्षा की चुनौती के बारे में भारत में शैक्षिक विमर्श कुछ समय पहले तक उदासीन रहा है। पर अब शिक्षा के अधिकार (आर.टी.ई.) की उक्ति 'सभी के लिए शिक्षा (एजुकेशन फॉर ऑल – ई.एफ.ए.)' द्वारा प्रदान किए गए संवेग के कारण यह बात अधिकाधिक रूप से स्वीकार की जा रही है कि अक्षमताओं से ग्रस्त बच्चों को मुख्यधारा में शामिल करना ई.एफ.ए. के लक्ष्य को हासिल करने के लिए उचित और आवश्यक है। यह लेख समावेशी शिक्षा की अनेक धारणाओं और नीति निर्माण की दृष्टि से की गई उसकी व्याख्याओं का विहंगम चित्र प्रस्तुत करता है। साथ ही स्कूलों के द्वारा, उनके सभी विद्यार्थियों के लिए सीखने और सिखाने की गुणवत्ता में सुधार करने के लिए, समावेशी शिक्षा की पद्धतियों को अपनाने के प्रयास किए जाने की वकालत करता है।

भारतीय सन्दर्भ में समावेशी शिक्षा

'समावेश करना तथा बाहर रखना सर्वत्र एक समान श्रेणियाँ नहीं होतीं। हर स्थिति अपने खुद के ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, वैश्विक तथा सन्दर्भगत प्रभावों के द्वारा निर्मित की जाती है' (बार्टन एवं आर्मस्ट्रांग, 2007)।

समावेश की प्रक्रिया को भारत में कुछ समय पहले ही मान्यता दी गई है। इस कारण से उसकी अवधारणा तथा विचारधारा, दोनों के रूप में, एक सर्वमान्य परिभाषा प्रस्तुत करने तथा उसकी स्पष्ट समझ विकसित करने का कार्य बहुत कठिन रहा है। समावेश की बात एक ऐसी प्रक्रिया के रूप में किए जाने से, जिसका उद्भव पाश्चात्य सोच से हुआ है, उसकी उपेक्षा की गई है और अकसर उसे गलत समझा गया है। सिंघल (2005) का कथन है कि समावेशी शिक्षा "... एक ऐसी अवधारणा है जिसे अन्तर्राष्ट्रीय विमर्श से ग्रहण किया गया है पर जिसका भारतीय परिदृश्य से सामंजस्य नहीं बिठाया गया है" (पृ. 9)। एक अन्य सन्दर्भ में वे कहती हैं कि समावेशी शिक्षा शब्द का उपयोग अधिक आकर्षक और राजनीतिक दृष्टि से सही प्रतीत हुआ और इसलिए इसे, इसके पीछे की धारणा को आवश्यक रूप से समझे बिना ही, शिक्षा के क्षेत्र में कार्य करने वालों तथा नीति नियोजकों द्वारा अपना लिया गया (सिंघल, 2006)। केवल 1990 के दशक में आकर ही, भारत में समावेशी शिक्षा के आदर्श के समर्थन में कुछ आवाजें उठीं। जंगीरा (1995) तथा कौर एवं कारंत (1993) ने पाश्चात्य प्रतिमान की उपेक्षा करने के खिलाफ चेतावनी दी। उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि इसका तिरस्कार करने से 'सभी के लिए शिक्षा' का लक्ष्य हासिल करने में विलम्ब होने की सम्भावना थी।

समावेशी शिक्षा की परिपूर्ण समझ विकसित करने में कठिनाई इस तथ्य के कारण भी खड़ी हुई कि इस शब्द को अकसर एकीकरण या समेकन के समानार्थी रूप में एक–दूसरे के स्थान पर उपयोग किया गया है। जहाँ नीति तथा कानून के वर्गीकरण में अक्षमताओं से ग्रस्त बच्चों की शिक्षा के सन्दर्भ में 'मुख्य धारा में लाना' और 'एकीकरण' जैसे शब्दों का दस्तावेजों में बहुत उपयोग किया जाता रहा है, वहीं समावेशी शिक्षा एक अपेक्षाकृत नया आया हुआ शब्द है। जैसा कि आर्मस्ट्रांग, आर्मस्ट्रांग एवं स्पैंन्डगू (2010) ने स्पष्ट किया है, समावेशी शिक्षा की उत्पत्ति तब मौजूद मुख्य धारा वाले और एकीकरण वाले प्रतिरूपों द्वारा आरोपित किए गए अवरोधों के खिलाफ एक चुनौती के रूप में हुई थी। इसलिए यह समझना प्रासंगिक होगा कि ये दोनों अवधारणाएँ, न केवल अपने अर्थ और वैचारिक जुड़ाव में बल्कि क्रियान्वयन में अपने अलग–अलग निहितार्थों की दृष्टि से भी, स्पष्ट रूप से भिन्न मानी जाएँ। जहाँ एकीकरण का आशय विशेष जरूरतों वाले बच्चों का नियमित स्कूलों में स्थानीय, भौगोलिक और सामाजिक रूप से एकीकरण होता है, और अक्षमता से ग्रस्त बच्चे की इसके लिए पूर्वतैयारी को इसकी सफलता की पूर्व–शर्त माना जाता है, वहीं समावेश एक 'पूर्ण स्कूल' के दृष्टिकोण को अपनाता है जिसमें स्कूलों से अपनी रोजमर्रा की शैक्षिक पद्धतियों में अपने को ऐसे बच्चों सहित सभी के लिए अनुकूल और समावेशी

बनाने का आग्रह किया जाता है (लिंडसे, 2007)। हालाँकि शाब्दिक भ्रम और अस्पष्टता ने सर्व–सहमति वाली समझ को दूषित कर दिया है, परन्तु भारत में समावेशी शिक्षा की भी विभिन्न व्याख्याएँ की गई हैं।

समावेशी शिक्षा के लिए नीतिगत सहयोग

पिछले दो दशक में प्रारम्भिक शिक्षा से जुड़े सभी प्रमुख संस्थानों द्वारा व्यापक तौर पर और विशेषकर अक्षमताओं से ग्रस्त बच्चों के सन्दर्भ में, समावेशी शिक्षा को आगे बढ़ने के मार्ग के रूप में सैद्धान्तिक रूप से अपना लिया गया है। समावेशी शिक्षा का आरम्भ विशेष जरूरतों वाले बच्चों की शिक्षा पर आयोजित सलामांका विश्व सम्मेलन (सलामांका वर्ल्ड कान्फ्रेंस ऑन स्पेशल नीड्स एजुकेशन – यूनेस्को, 1994) में हुआ, जिसे ऐंसको एवं सीजर (2006) ने 'विशेष शिक्षा के क्षेत्र में अभी तक सामने आया सबसे महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय दस्तावेज' कहा है (पृ. 231), और उसके बाद उसे सारी दुनिया में व्यापक स्तर पर स्वीकार किया गया। भारत में ऐसी योजनाओं – जैसे कि अक्षमता ग्रस्त बच्चों के लिए एकीकृत शिक्षा (इंटीग्रेटेड एजुकेशन फॉर डिसएबल्ड चिल्ड्रन : आई.ई.डी.सी., 1974) जो भारत सरकार द्वारा प्रारम्भ की गई, और अक्षमता ग्रस्त बच्चों की एकीकृत शिक्षा परियोजना (प्रोजेक्ट इंटीग्रेटेड एजुकेशन ऑफ डिसएबल्ड चिल्ड्रन : पी.आई.ई.डी.) जिसे छठवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान प्रारम्भ किया गया – ने कम से कम सिद्धान्त के रूप में समावेशी शिक्षा के अपनाए जाने की आधारशिला पहले ही रख दी थी। जिला प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम (डिस्ट्रिक्ट प्राइमरी एजुकेशन प्रोग्राम : डी.पी.ई.पी.) ने समावेशी शिक्षा के दर्शन को 1997 में अपना लिया (संजीव एवं कुमार, 2007)। अक्षमता ग्रस्त व्यक्तियों के लिए अधिनियम (समान अवसरों, अधिकारों की रक्षा तथा पूर्ण भागीदारी) [द परसन्स विद डिसएबिलिटी एक्ट – ईक्वल अपोर्चुनिटीज, प्रोटेक्शन ऑफ राइट्स एण्ड फुल पार्टिसिपेशन)] 1995, में अक्षमता से ग्रस्त व्यक्तियों को समान अवसरों के दिए जाने की जरूरत का जोर देकर उल्लेख किया गया। इसमें राज्य तथा स्थानीय अधिकारियों को इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उपयुक्त कार्यवाही करने के लिए निर्देशित किया गया। समावेश की प्रक्रिया के लिए नीतिगत सहायता को दसवीं पंचवर्षीय योजना (2001) के दौरान सर्व शिक्षा अभियान जैसे कार्यक्रमों के आरम्भ किए जाने तथा शिक्षा के अधिकार अधिनियम, 2009 से बल मिला। इस अधिनियम (जो निस्सन्देह सभी के लिए शिक्षा के दुष्प्राप्य लक्ष्य को हासिल करने के भारत के संघर्ष में एक महत्त्वपूर्ण मील के पत्थर के समान है) ने विशेष जरूरतों वाले बच्चों की शिक्षा के लिए भी बेहद जरूरी संरक्षण प्रदान किया (मदान एवं शर्मा, 2013)।

हालाँकि सतही तौर पर समावेश के प्रति हार्दिक नीतिगत समर्थन प्रतीत होता है, वहीं नजदीक से जाँच–पड़ताल करने पर हमें उस समर्थन की अनेक व्याख्याओं की सम्भावना दिखाई देती है। उदाहरण के लिए, सिंघल (2006) ध्यान दिलाती हैं कि किस प्रकार समावेशी शिक्षा की व्याख्या, अक्षमता से ग्रस्त बच्चों के लिए पहले से उपलब्ध एन.आई.ओ.एस. तथा एन.एफ.ई. कार्यक्रमों के अलावा, 'शिक्षा की एक वैकल्पिक व्यवस्था' के रूप में की जा सकती है। उनकी दृष्टि में, जहाँ अक्षमता से ग्रस्त बच्चों को शिक्षा व्यवस्था में शामिल किए जाने पर जोर दिया गया है, वहीं यह जरूरी नहीं है कि इसका आशय मुख्यधारा से हो। समावेशी शिक्षा कार्यक्रमों को लागू करने वाले निजी स्कूलों में किए गए अध्ययनों, (सैन्धिल एवं सिंह, 2005); (सिंघल एवं राउज, 2003); (मदान एवं शर्मा, 2013), ने पाया कि ये स्कूल अक्षमता ग्रस्त बच्चों को प्रवेश देने के लिए पृथक इकाइयाँ बना देते हैं, जिन्हें रिसोर्स रूम (संसाधन कक्ष) कहा जाता है। समावेश के नाम पर इस तरह की व्यवस्था न केवल बच्चों के बीच में कृत्रिम अवरोध निर्मित कर देती है, बल्कि मुख्यधारा की शैक्षणिक तथा पाठ्यक्रम से इतर गतिविधियों में ऐसे बच्चों की भागीदारी को भी बाधित करती है। ऐसे अनेक प्रमाण दर्शाते हैं कि हालाँकि नीति के स्तर पर भारत में समावेशी शिक्षा के प्रति समर्थन आशाजनक प्रतीत होता है, परन्तु उसकी व्याख्या तथा क्रियान्वयन में भारी विसंगति दिखाई देती है।

स्कूल के स्तर पर समावेशी कार्य–प्रणालियाँ अपनाना

इन तथ्यों के प्रकाश में, शायद स्कूलों के लिए उचित होगा कि वे स्वयं ही समावेश की परिपूर्ण जानकारी पर आधारित समझ विकसित करें। यह खोजें कि वे किस प्रकार अपने स्कूल के वातावरण को समावेशी बनाने में भागीदारी निभा सकते हैं। लेखिका का आग्रह है कि निजी तथा सार्वजनिक संस्थाओं, दोनों को इस प्रक्रिया में भाग लेना चाहिए क्योंकि यह राष्ट्रीय कार्य एक ऐसी जिम्मेदारी है जिसे सभी को बराबरी से वहन करना जरूरी है। विशेष जरूरतों वाले बच्चों के जीवन में उनको सशक्त बनाने में तथा उनकी अक्षमताओं की बाधाओं को कम करने में

स्कूलों के महत्त्व को भारत तथा अन्य देशों के अनेक शोधकर्ताओं ने प्राप्त जानकारी के आधार पर रेखांकित किया है (छुआकलिंग, 2010; कॉनर्स एवं स्टाकर, 2003; व्यास, 2008, जैसा कि शर्मा एवं सेन, 2012, ने उद्धृत किया है)। परन्तु यह कहने के बाद, स्कूलों के लिए यह समझना बेहद जरूरी है कि किसी स्कूल में समावेशी शिक्षा का कार्यक्रम एक अलग से जोड़े गए अंग की तरह से नहीं चल सकता। इसके लिए प्रशासनिक तथा शिक्षण सम्बन्धी निर्णय लेने की प्रक्रिया के हर स्तर पर स्कूल में काम करने वालों की सर्वांगीण रूप से इसमें संलग्नता और भागीदारी का होना आवश्यक है। जब तक कि कोई स्कूल सिद्धान्त तथा व्यवहार के रूप में इस विचारधारा को पूरी हार्दिकता से नहीं अपनाता, तब तक इसके सफल होने की सम्भावना नहीं होती।

अकसर स्कूलों की प्रवृत्ति समावेशी पद्धतियों को एक अतिरिक्त बोझ की तरह देखने की होती है, एक ऐसा दायित्व जो उनके ऊपर एक पृथक पाठ्यक्रम विकसित करने और नई शिक्षण तकनीकें सीखने की जिम्मेदारी लाद देता है। ऐसा जान पड़ता है कि यह दृष्टिकोण इस धारणा से उपजता है कि विशेष जरूरतों वाले बच्चों के साथ काम करने में विशेषज्ञतापूर्ण शिक्षण पद्धति की जरूरत पड़ती है, और शिक्षकों के लिए उसे सीखना इस जिम्मेदारी को निभाने के लिए आवश्यक है। यह धारणा खुद व्यापक रूप से प्रचलित, कमियों के सन्दर्भ में भेदपूर्ण दृष्टि वाले उस प्रतिरूप से विकसित हुई है जो अक्षमताग्रस्त बच्चों को अन्य बच्चों से गुणात्मक रूप से भिन्न मानता है। पर, इस क्षेत्र में प्रायोगिक शोध के आधार पर प्राप्त हुई नई जानकारियाँ दर्शाती हैं कि विशिष्ट रूप से भिन्न शिक्षण पद्धतियाँ अपनाने पर जोर देने के बजाय, शिक्षकों को मौजूदा शिक्षण पद्धतियों के ऐसे अनुकूलित स्वरूपों को अपनाने पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए जो न केवल विशेष जरूरतों वाले बच्चों के लिए, बल्कि कक्षा में सभी विद्यार्थियों के लिए लाभकारी होते हैं। जैसा कि फ्लोरियन (2009) का कथन है, "ऐसी शिक्षण पद्धति जो सभी सीखने वालों को समाहित करती है, वह सिखाने तथा सीखने के ऐसे सिद्धान्तों पर आधारित रहती है जो अभाव और अन्तर देखने वाले भेदभाव पूर्ण नजरियों को तथा योग्यता के बारे में निश्चयात्मक दृष्टियों को अस्वीकर करते हैं, बल्कि वे व्यक्तियों की भिन्नताओं को मनुष्य की स्थिति का हिस्सा मानते हैं" (पृ. 9)। इसी दृष्टि से, अन्तरों वाले शिक्षण और कक्षाओं की अनेक सिफारिशें भी की गई हैं। वाल्ड्रोन एवं मैकलेस्की (2001) के अनुसार, ऐसे शिक्षण में शिक्षक उसी पाठ या इकाई का उपयोग करते हुए अपेक्षाओं तथा कार्य की पूर्णता के भिन्न–भिन्न स्तर निर्मित करता है। ऐसी कक्षा उसके सभी विद्यार्थियों की तैयारी के भिन्न–भिन्न स्तरों, उनके भिन्न–भिन्न व्यक्तित्वों तथा रुचियों को ध्यान में रख कर चलती है। परन्तु, निश्चित ही, इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि कठिन बाधाओं से ग्रस्त बच्चों को हो सकता है कि इस पद्धति से लाभ न हो और इसलिए उन्हें कक्षा के बाहर भी सहायक प्रयासों की जरूरत पड़ सकती है।

यहाँ इस बात पर ध्यान देना जरूरी है कि मामूली अक्षमताओं से ग्रस्त जिन बच्चों को मुख्यधारा के बाहर रखा जाता है, उनकी जरूरतों को पूरा करने के साथ–साथ समावेशी शिक्षण पद्धति नियमित कक्षाओं में पहले से मौजूद ऐसे सैकड़ों विद्यार्थियों को भी लाभ पहुँचाती है जो मामूली से लेकर मध्यम दर्जे की सीखने की कठिनाइयों से प्रभावित रहते हैं, और जिनकी इन कठिनाइयों को ज्यादातर न तो पहचाना जाता है और न ही उनका समाधान किया जाता हैं। स्कूल में खराब प्रदर्शन के कारण इन बच्चों के स्कूल छोड़ देने का खतरा बना रहता है, और वे कभी भी शैक्षणिक सफलता हासिल न कर सकने के अलावा, अपने बड़े होने के पूरे दौर में, सुधारे न जा सकने वाले मनोवैज्ञानिक तथा भावनात्मक आघातों से पीड़ित रहते हैं।

इसलिए, एक समावेशी स्कूल वह है जो ऐसे मूल्य–बोध को स्वीकार करता है जो विविधता को सराहता है, अपने विद्यार्थियों की व्यक्तिगत भिन्नताओं का आदर करता है और ऐसी शिक्षण पद्धतियों को अपनाता है जिनसे सिर्फ विशेष जरूरतों वाले बच्चे ही नहीं, बल्कि कक्षा के सभी बच्चे लाभान्वित होते हैं। इस बड़े प्रयास में अग्रणी भूमिका स्वीकार करने वाले वे स्कूल जो समावेशी पद्धतियों को लागू करने में अपनी स्वैच्छिक जिम्मेदारी को व्यक्त करते हैं, वे न केवल सभी के लिए शिक्षा के लक्ष्य को हासिल करने में अपनी भागीदारी की छाप छोड़ेंगे, बल्कि वे अन्य स्कूलों को अपना अनुकरण करने के लिए मार्ग भी प्रशस्त करेंगे। इसमें कोई सन्देह नहीं किया जा सकता कि इस देश के सभी बच्चों को गुणवत्ता और अर्थपूर्ण शिक्षा प्रदान करने के लिए समावेश ही आगे बढ़ने का मार्ग है, और इस राष्ट्रीय कार्य में भागीदारी करने के अलावा अब कोई और विकल्प नहीं है।

References

- Ainscow, M. & Cesar, M. (2006). Inclusive education ten years after Salamance: Setting the agenda. European Journal of Psychology of Education, XXI, 3, pp.231-238.
- Armstrong, A.C., Armstrong, D. & Spandagou, I. (2010). Inclusive education: International policy and practice. London: Sage Publications.
- Barton, L. & Armstrong, F. (2007). Policy, experience and change: Cross-cultural reflections on inclusive education. London: Springer
- Florian, L. (2009). Towards an inclusive pedagogy. In P.Hick, R. Kershner, & P.T. Farrell (Eds.), Psychology for inclusive education (pp.38-49). NY: Routledge.
- Jangira, N.K. (1995). Responsive teaching. New Delhi: NCERT.
- Kaur, B. & Karanth, P. (1993). Education for young children with special needs. In T.S. Saraswathi & B. Kaur (Eds.), Human development and family studies in India (pp. 301-314). New Delhi: Sage Publications.
- Lindsay, K.G. (2007). Inclusive education in India: Interpretation, implementation and issues. Consortium for research on educational access, transitions and equity. Create pathways to access, Research Monograph, no. 15.
- Madan, A., & Sharma, N. (2013). Inclusive Education for Children with Disabilities: Preparing Schools to Meet the Challenge, Electronic Journal for Inclusive Education, 3 (1).
- Sanjeev, K. & Kumar, K. (2007). Inclusive education in India. Electronic Journal for Inclusive Education, 2 (2).
- Sandhill, A. & Singh, A. (2005) Inclusion: Some Emerging Directions in the Indian Context, paper presented at the Inclusive and Supportive Education Congress 2005, University of Strathclyde, Glasgow.
- Sharma, N. & Sen, Sharma, R. (2012). Children with disabilities and supportive school ecologies. In M. Ungar (Ed.), The social ecology of resilience: A handbook of theory and practice. doi: 10.1007/978-1-4614-0586-3_22. New York: Springer
- Singal, N. (2005a) Responding to difference: Policies to support 'inclusive education' in India, paper presented at the Inclusive and Supportive Education Congress 2005, University of Strathclyde, Glasgow.
- Singal, N. (2006). An ecosystemic approach for understanding inclusive education: An Indian case-study. European Journal of Psychology of Education, Vol. XXI, 3, pp. 239-252.
- Singal, N. & Rouse, M. (2003) 'We do inclusion': Practitioner perspectives in some 'inclusive schools' in India, in Perspectives in Education, Special Issue: The inclusion/exclusion debate in South Africa and developing countries, 21 (3), pp85-98.
- Waldron, N. & McLeskey, J. (2001). An interview with Nancy Waldron and James McLeskey. Intervention and School & Clinic, 36(3), 1-75

अंकुर मदान अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय, बेंगलूरु की फैकल्टी की सदस्य हैं। वे चाइल्ड डेवलपमेण्ट तथा लर्निंग एण्ड इनक्लूसिव एजुकेशन विषयों के पाठ्यक्रम पढ़ाती हैं। उनकी दिलचस्पी प्रारम्भिक स्कूल स्तर पर विशेष जरूरतों वाले बच्चों के लिए समावेशी शिक्षा के प्रतिरूप विकसित करने में हैं। उनसे ankur.madan@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : भरत त्रिपाठी

प्रतिभाशाली बच्चों को शिक्षा का अधिकार

अनिता कुरुप

बच्चों को निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा का अधिकार अधिनियम (आर.टी.ई.एक्ट 2009) पारित किया जाना बच्चों को निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने के लिए भारत की प्रतिबद्धता दर्शाता है। आज हर बच्चे को प्रारम्भिक स्कूल स्तर पर गुणवत्तापूर्ण शिक्षा पाने का हक हासिल है। इस तथ्य की बढ़ती हुई स्वीकार्यता को देखते हुए कि कोई भी दो व्यक्ति समान नहीं होते, भारत की औपचारिक शिक्षा व्यवस्था को विविध प्रकार की पृष्ठभूमियों से आने वाले बच्चों की जरूरतों की पूर्ति करने के लिए सक्षम बनने की आवश्यकता है। आर.टी.ई. एक्ट, 2009 के अन्तर्गत, सभी को समाहित करने वाली शिक्षा को आधार–दर्शन और दृष्टिकोण के रूप में अपनाना तथा वास्तविक व्यवहार में उसे प्रदर्शित करना स्कूली व्यवस्था की विवशता बन गई है। समावेशी शिक्षा में लिंग के आधार पर बराबरी को ध्यान में रखते हुए, अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के बच्चों, धार्मिक अल्पसंख्यक समुदायों के बच्चों, शारीरिक तथा सीखने की अक्षमताओं से ग्रस्त बच्चों और प्रतिभाशाली तथा मेधावी बच्चों, सभी की शिक्षा शामिल हैं।

भारत की औपचारिक शिक्षा व्यवस्था में 14 वर्ष की आयु तक के सभी बच्चों को शामिल करना अत्यन्त कठिन कार्य है। संसाधनों की गम्भीर कमी के संकट के चलते, प्रतिभाशाली बच्चों के लिए एक विशेष शिक्षा कार्यक्रम के लिए संसाधन प्रदान किए जाने की दलील देना मुश्किल प्रतीत हो सकता है। सभी के लिए शिक्षा के समान अवसरों के सिद्धान्त को स्वीकार करना महत्त्वपूर्ण है। परन्तु, प्रतिभाशाली बच्चों की शिक्षा के पक्षधर मानते हैं कि ये प्रावधान ऐसे बच्चों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए पर्याप्त नहीं होते। इसलिए यह बेहद जरूरी है कि राज्य प्रतिभाशाली बच्चों की जरूरतों को पूरा करने की अपनी जिम्मेदारी से मुँह न मोड़े क्योंकि इससे गरीबों के प्रतिभाशाली बच्चों का सबसे अधिक नुकसान होगा।

एक व्यक्ति से दूसरा व्यक्ति भिन्न होता है, और उनके बीच के अन्तर अनेक कारकों (जैसे कि बुद्धि, सृजनात्मकता, योग्यता, वातावरण, आनुवांशिक पृष्ठभूमि, पोषण, सामाजिक तथा सांस्कृतिक कारकों सहित अन्य) के जटिल समूह का परिणाम होते हैं, तथा इन सभी के गम्भीर शैक्षणिक निहितार्थ होते हैं। सभी बच्चे उपयुक्त शिक्षा प्राप्त करने के उनके हक की दृष्टि से बराबर होते हैं, परन्तु वह उपयुक्त शिक्षा क्या होगी वह किसी भी दिए गए कैलेण्डर वर्ष में पैदा हुए सभी बच्चों के लिए समान नहीं होती। एक शिक्षक को प्रभावशाली होने के लिए हर बच्चे के सीखने को सुनिश्चित करना होगा। इसके लिए सभी विद्यार्थियों के लिए एक ही पाठ्यक्रम की परिपाटी से आगे बढ़कर उसे उन बच्चों की असमानताओं पर ध्यान देते हुए उनकी विशेष जरूरतों को पूरा करना होगा। दूसरे शब्दों में, जब पाठ्यक्रम तथा शिक्षण में अलग–अलग बच्चों की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं किया जाता तो मेधावी तथा प्रतिभाशाली बच्चों के हितों की सबसे अधिक क्षति होती है।

हौब एवं शर्मा ने भारत को "ऐसे अनेक देशों का समूह कहा है जिन्हें साझा नियति तथा सफल लोकतंत्र के सूत्र ने साथ बाँधा हुआ है" (2006, पृ. 3)। भारत में 6 से 14 साल की स्कूल में पढ़ने की उम्र के 19 करोड़ 30 लाख बच्चे हैं (मेहता, 2007)। सामान्य सम्भाविता को मानते हुए, प्रतिभावान बच्चों की संख्या कुल आबादी का लगभग 3 प्रतिशत, अर्थात लगभग 60 लाख होगी। उनके लिए एक परिपूर्ण राष्ट्रीय कार्यक्रम विकसित करने की दृष्टि से उनकी इतनी बड़ी संख्या अपने आप में एक विराट चुनौती साबित होगी। इसके अलावा, भारत की 70 प्रतिशत आबादी गाँवों में रहती है। तुलनात्मक रूप से देखें तो इस आबादी का शैक्षिक स्तर कम होता है, गरीबी ज्यादा होती है, और आधुनिक सुविधाओं तक उनकी पहुँच भी कम होती है (हौब एवं शर्मा, 2006)। लोगों के विभिन्न समूहों की संसाधनों तक पहुँच तथा समस्याओं की जानकारी में अन्तर होने से उनके ऐसे गठबन्धन बनने में बाधा आती है जो सक्रिय रूप से देश में प्रतिभाशाली बच्चों की शिक्षा का परिवेश बदल सकें।

भारत ने अतीत में विज्ञान तथा गणित में उच्च योग्यता रखने वाले विद्यार्थियों को प्रोत्साहित करने के कुछ छुटपुट प्रयास किए हैं। 1986 में, भारत ने नवोदय विद्यालय योजना की शुरुआत करके शिक्षा की, विशेष रूप से ग्रामीण भारतीय आबादी तथा अल्पसंख्यक आबादी की शिक्षा की, सर्वांगीण गुणवत्ता को सुधारने का प्रयास किया (राइट, 2008)। इसके साथ ही, राष्ट्रीय स्तर की परीक्षाएँ – जैसे कि राष्ट्रीय प्रतिभा खोज (नेशनल टेलेंट सर्च) परीक्षा, गणित तथा विज्ञान में ओलम्पियाड परीक्षाएँ, किशोर वैज्ञानिक प्रोत्साहन योजना छात्रवृत्ति परीक्षा – तथा अन्य प्रतिभा खोज कार्यक्रम प्रारम्भ किए गए हैं। ये परीक्षाएँ विद्यार्थियों के द्वारा हासिल किए गए ज्ञान तथा कौशलों का परीक्षण करती हैं। परन्तु, अकसर अनेक प्रतिभावान तथा मेधावी बच्चे चुनाव की ऐसी प्रक्रिया के बाहर छूट जाते हैं क्योंकि हो सकता है कि वे "... कुशलतापूर्वक परीक्षा देने वाले तथा अच्छी तरह पाठ सीखने वाले बच्चों के साफ–सुथरे रूढ़िवादी खाँचों में फिट न बैठते हों" (रैन्जुली, 2005, पृ. 80)।

प्रतिभावान बच्चे वे होते हैं जो अपने आयु वर्ग के अन्य बच्चों की तुलना में उच्चतर योग्यता या उच्चतर योग्यता की अन्तर्निहित सम्भावना प्रदर्शित करते हैं। यहाँ ज्यादा महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ऐसी योग्यता एक आवश्यकता भी दर्शाती हैः प्रतिभाशाली बच्चों का संतोषजनक ढंग से उच्च श्रेणी का शैक्षिक विकास करने के लिए उच्च श्रेणी की शैक्षिक सामग्री की आवश्यकता होती है।

प्रतिभावान बच्चों की शिक्षा के क्षेत्र में शोधकर्ताओं के बीच प्रतिभा की अवधारणा पर अभी भी बहस चलती रहती है। जहाँ प्रतिभा की कोई सार्वभौमिक रूप से स्वीकृत एक परिभाषा नहीं हैं, वहीं उसकी कई अलग–अलग परिभाषाएँ फ्रान्कोइस गाग्ने, जोसेफ स्टर्नबर्ग, तथा हावर्ड गार्डनर द्वारा प्रस्तावित की गई हैं। प्रतिभा के सबसे अधिक लोकप्रिय प्रतिरूपों में से एक रैन्जुली का थ्री रिंग मॉडल (तीन छल्लों वाला प्रतिरूप) है, जिसमें निम्नलिखित शामिल हैं :

अ) **औसत से काफी अधिक योग्यता** : योग्यता (बुद्धिमत्ता) का औसत से अधिक होना आवश्यक होता है, पर उसका विलक्षण होना जरूरी नहीं है। योग्यता की अवधारणा को आई.क्यू. (बुद्धिमत्ता गुणांक) के मानक विचलनों के रूप में समझा जाता है।

ब) **सृजनात्मकता** : यह असमान विचारों में सम्बन्ध बनाने की, विश्लेषणात्मक ढंग से (तथा समन्वयात्मक ढंग से) और हटकर सोच सकने की तथा समस्याओं के असामान्य किन्तु उपयुक्त समाधान प्रस्तुत कर सकने की क्षमता होती है। किसी भी क्षेत्र में उपलब्धि के लिए सृजनात्मकता का केन्द्रीय महत्त्व होता है : उपलब्धि का आशय, चीजों को याद कर लेने से आगे बढ़कर, हासिल किए गए ज्ञान का किसी नए उत्पाद या नए विचार को विकसित करने के लिए उपयोग करना होता है।

स) **कार्य के लिए प्रतिबद्धता** : यह अपनी रुचि के किसी विशेष क्षेत्र में ज्ञान और कौशल हासिल करने के लिए कठिन परिश्रम करने की योग्यता होती है। रैन्जुली कार्य के लिए प्रतिबद्धता के सन्दर्भ में आवश्यक कुछ व्यवहारगत तथा मनोवैज्ञानिक गुणों (जैसे दृढ़ता, लगन, लचीलापन, विषय के प्रति जुनून, कल्पना शक्ति, तथा मानवीय सरोकारों के प्रति संवेदनशीलता आदि) का उल्लेख करते हैं।

हालाँकि प्रतिभा की कोई एक परिभाषा नहीं है, परन्तु शोधकर्ता प्रतिभाशाली बच्चों की कुछ साझा विशेषताओं के बारे में सहमत हैं, जो इस प्रकार हैंः

1. तेजी से सीखने वाला होना
2. अभिनव, जटिल तथा चुनौतीपूर्ण समस्याओं में दिलचस्पी होना
3. उच्च भाषा योग्यता तथा उच्च श्रेणी का शब्द भण्डार होना; बहुत अध्ययनशील होना
4. अति ऊर्जावान होना : हो सकता है कि ऐसे बच्चे थोड़े बेचैन और चंचल रहते हों; सामान्य दिनचर्या के कार्यों से ऊब जाते हों
5. जिज्ञासा : असामान्य प्रश्न पूछते हैं ('ऐसा क्यों' और 'यदि ऐसा हो तो क्या होगा') और जो स्वतंत्र रूप से छानबीन करते हैं
6 उच्च–स्तरीय कौशल/सम्बन्ध खोजने की सोच : विभिन्न क्षेत्रों से उपजे विचारों के पारस्परिक सम्बन्धों को पहचानना, उदाहरण के लिए, जब कक्षा में किसी अवधारणा के बारे में पढ़ रहे हों तो उसे वास्तविक जीवन में उनके द्वारा देखे गए किसी क्रियाकलाप से जोड़ना
7. सृजनात्मकता : गणित के सवाल हल करने के लिए नए सूत्र निकालते हैं, किसी प्रश्न के असामान्य उत्तर देते हैं

8. दृढ़ता, लगन और अपनी रुचि के क्षेत्र में श्रेष्ठ होने की चाहत (हो सकता है कि अंक–स्पर्धा में बेहतर होना प्रतिभाशाली बच्चों को प्रेरित न करें)
9. उच्च स्तरीय अवधारणाओं को समझने की क्षमता
10. परिकल्पना निर्मित करने की सोच, दार्शनिक तथा नैतिक सरोकारों से लगाव

हो सकता है कि कोई प्रतिभाशाली बच्चा इनमें से केवल कुछ विशेषताएँ दर्शाए। अमेरिका के प्रतिभाशाली बच्चों का राष्ट्रीय संघ (नेशनल एशोसिएशन फॉर गिफ्टेड चिल्ड्रन–एन.ए.जी.सी., यू.एस.) इन व्यापक क्षेत्रों में प्रतिभा को मान्यता देता हैः शैक्षिक, सामान्य या विशिष्ट बौद्धिक योग्यता, सृजनात्मकता, नेतृत्व, दृश्यात्मक–प्रदर्शनात्मक कलाएँ या संगीत, तथा मनोशारीरिक अंग संचालन क्षमताएँ।

दुर्भाग्य से, भारत की सामान्य कक्षाओं में संचालित होने वाले पाठ्यक्रम तथा क्रियाकलाप का प्रयोजन, व्याख्यान–आधारित शिक्षण तथा चीजों को याद करने को प्रोत्साहित करने वाले लिखित परीक्षा–आधारित मूल्यांकन के माध्यम से, औसत सीखने वाले की जरूरतों को पूरा करना होता है। ऐसी व्यवस्था के भीतर, प्रतिभाशाली बच्चों को पहचानने की सम्भावना बहुत सीमित होती है। बहुत बार, शिक्षक विद्यार्थियों के परीक्षाओं में उच्च उपलब्धियाँ हासिल करने को ही प्रतिभा समझने की भूल कर देते हैं।

प्रतिभा के क्षेत्र में हुए शोधकार्य से प्रकट होता है कि सम्भावित रूप से प्रतिभाशाली बच्चों की संख्या का एक बड़ा हिस्सा ऐसे बच्चों का होता है जो कक्षा के पारम्परिक ढाँचे में अच्छी तरह काम करने में असफल रहते हैं; वे लिखना पसन्द नहीं करते, परीक्षाओं में खराब प्रदर्शन करते हैं, असामान्य प्रश्न पूछते हैं, या सवालों को हल करने के असामान्य तरीके सुझाते हैं, और इस प्रकार कक्षा की सामान्य दिनचर्या को अस्तव्यस्त कर देते हैं। शिक्षक ऐसे बच्चों की पहचान अकसर परेशानी खड़ी करने वाले बच्चों के रूप में करते हैं। उन मामलों में भी जिनमें एक प्रतिभाशाली बच्चे को (प्रतिभाशाली बच्चे की तरह से नहीं, बल्कि तेजी से सीखने वाले बच्चे के रूप में) पहचान लिया जाता है, शिक्षक ऐसे बच्चों को उनकी अपनी युक्तियों के भरोसे ही छोड़ देते हैं, या उनसे किसी कमजोर बच्चे की सहायता करने को कह देते हैं।

इस धारणा, कि प्रतिभाशाली बच्चे 'अपना काम स्वयं कर सकते हैं', के विपरीत शोध से पता चलता है कि सभी बच्चों की तरह, प्रतिभाशाली बच्चों को भी अपनी अन्तर्निहित सम्भावनाओं को साकार करने के लिए उपयुक्त प्रेरणा, चुनौती तथा सहारे की आवश्यकता होती है। यदि स्कूल का पाठ्यक्रम प्रतिभाशाली बच्चों की उच्च स्तरीय शैक्षिक जरूरतों को पूरा नहीं करता तो वे निम्नलिखित समस्याएँ प्रदर्शित कर सकते हैं :

अ) **कक्षा में आचरण–सम्बन्धी समस्याएँ** : ऊब, चंचलता, अनुशासन की समस्याएँ, बहुत बार स्कूल से नदारद रहना

ब) **निम्न–स्तरीय सामाजिक–भावनात्मक तालमेल** : हो सकता है प्रतिभाशाली बच्चे अपने को दूसरे बच्चों से कटा हुआ महसूस करें, अपने साथियों के साथ घुल–मिल सकने के लिए अपनी क्षमताओं को छिपाएँ, दुष्ट बच्चों द्वारा सताए जाएँ, या हो सकता है कि वे यह सोचकर परेशान होते रहें कि 'मुझमें क्या गड़बड़ी है?', तथा सबसे अलग रहें।

स) **काम करने की खराब आदतें** : यदि प्रतिभाशाली बच्चों को छोटी उम्र से ही स्कूल में पर्याप्त चुनौती नहीं मिलती, तो हो सकता है कि वे काम करने की खराब आदतें विकसित कर लें। अनेक प्रतिभाशाली बच्चों के मामले में, माध्यमिक स्कूल या कालेज में पहुँचकर ही पहली बार उनका सामना चुनौतीपूर्ण पाठ्यक्रम या समान योग्यता वाले सहपाठी से होता है। जब ऐसा होता है, तो हो सकता है वे इस निष्कर्ष पर पहुँचें कि अपनी बुद्धिमत्ता के बारे में उनकी धारणा गलत थी ('मेरा ख्याल था कि मैं होशियार हूँ, लेकिन मैं इस पाठ्यक्रम से पार नहीं पा सकता, इसलिए मैं कभी भी इसे नहीं कर पाऊँगा, इसलिए कोशिश करना भी बेकार है'), और इस तरह हो सकता है कि वे कभी भी अपनी सम्भावित क्षमता को पूरा न कर सकें।

ये प्रतिभाशाली बच्चों की स्वाभाविक समस्याएँ नहीं हैं, बल्कि वे तब खड़ी होती हैं जब किसी बच्चे की ऐसी उच्चस्तरीय संज्ञानात्मक जरूरतें होती हैं जिन्हें नियमित कक्षाएँ संतोषप्रद ढंग से पूरा नहीं करतीं।

निष्कर्ष

भारत में प्रतिभाशाली बच्चों की शिक्षा के लिए किसी विशेष राष्ट्रीय कार्यक्रम के न होने से, जो युवा प्रतिभाएँ देश की समृद्धि और विकास में मूल्यवान योगदान दे सकती हैं, देश उनकी असामान्य क्षमता का पूरा उपयोग करने के

अवसर से वंचित रह जाता है। देश ने इस तथ्य को स्वीकार करते हुए 2010 में विज्ञान तथा गणित में विशेष प्रतिभा संपन्न बच्चों की पहचान करने के लिए उपाय विकसित करने का एक राष्ट्रीय कार्यक्रम प्रारम्भ किया है। यह कार्यक्रम भारत सरकार के प्रधान वैज्ञानिक सलाहकार के कार्यालय द्वारा प्रारम्भ किया गया। इस कार्यक्रम का संयोजन एन.आई.ए.एस. के द्वारा किया जाता है जिसमें उसके दो अन्य सहयोगी, दिल्ली विश्वविद्यालय तथा अगस्त्य फाउण्डेशन, हैं। इसके द्वारा ऐसे बच्चों की प्रतिभा पहचानने के लिए परिमाणात्मक तथा गुणात्मक विधियों का उपयोग करते हुए अनेक उपाय विकसित किए गए हैं और उनकी पुष्टि की गई है। जहाँ एक ओर शोधकर्ताओं के समूह परीक्षणों के द्वारा उनकी और अधिक पुष्टि करने का काम कर रहे हैं, वहीं दूसरी ओर प्रतिभाशाली बच्चों को उपयुक्त मार्गदर्शन देने के प्रयास भी किए जा रहे हैं।

यह काम बहुत बड़ा है और इसमें अन्य समूहों के जुड़ने की आवश्यकता है। स्थानीय स्तर पर कुछ संस्थाएँ – जैसे कोलकाता में जगदीश बोस नेशनल टेलैंट सर्च, पुणे में ज्ञान प्रबोधिनी, दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रोफेसर कृष्ण मैत्रा द्वारा प्रतिभाशाली बच्चों की शिक्षा पर किया जा रहा शोधकार्य, तथा अन्य अनेक प्रयास – इस कार्य को बढ़ावा दे रही हैं। परन्तु, जरूरत देश के अन्य भागों में इस कार्य का विस्तार करते हुए अनेक अन्य समूहों को निर्मित करने की है, ताकि प्रतिभाशाली बच्चों की शिक्षा का एक राष्ट्रीय आन्दोलन बन सके।

References

- Anitha Kurup and Maithreyi, R (2012) A Review of Challenges in Developing a National Program for Gifted Children in India's Diverse Context. Roeper Review, 34 (4). pp. 215-223. ISSN 1940-865X
- Haub, C., & Sharma, O. P. (2006). India's population reality: Reconciling change and tradition. Population Bulletin, 61(3), 3–20. Retrieved from http://www.britannica.com/bps/additionalcontent/18/22748170/Indias- Population-Reality-Reconciling-Change-and-Tradition
- Mehta, A. C. (2007). Student flow at primary level: An analysis based on DISE data. New Delhi, India: National Institute of Education Planning and Administration. Retrieved from http://www.dise.in/Downloads/Reports&Studies/Studentflow.pdf
- Renzulli, J. S. (2005). Applying gifted education pedagogy to total talent development for all students. Theory Into Practice, 44(2), 80–89.doi:10.1207/s15430421tip4402_2
- Renzulli, J. S. (1986). The three ring conception of giftedness: A developmental

  model for creative productivity. In R. J. Sternberg & J. E.Davidson (Eds.), Conception of giftedness (pp. 53–92). New York, NY:Cambridge University Press.
- Wright, B. J. (2008). A global conceptualization of giftedness: A comparison of U.S. and Indian gifted education programmes (Master'sthesis). San Rafael, CA: Dominican University of California. Retrieved from http://www.dominican.edu/academics/education/department-ofeducation/graduate/seed/filestorage/wrightbenjamin.pdf

अनिता कुरुप शिक्षा में पीएच.डी. उपाधि प्राप्त हैं। वे नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ एडवान्स्ड स्टडीज (एन.आई.ए.एस.), बेंगलूरु के स्कूल ऑफ सोशल साइंसेज में प्रोफेसर हैं। वे वर्तमान में एन.आई.ए.एस. के शिक्षा कार्यक्रम तथा प्रतिभाशाली बच्चों की शिक्षा के राष्ट्रीय कार्यक्रम की संयोजक भी हैं। उनके शोध की रुचियों के क्षेत्र प्रमुख रूप से शिक्षा तथा लिंगभेद हैं। उनसे bkanitha@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद : सत्येन्द्र त्रिपाठी**

सरकारी अनुदान न पाने वाले निजी स्कूलों में समावेश: क्या आर.टी.ई.ने राह दिखाई है?

अर्चना मेहेंदले एवं राहुल मुखोपाध्याय

बच्चों को निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा का अधिकार अधिनियम (द राइट ऑफ चिल्ड्रन टु फ्री एण्ड कम्पलसरी एजुकेशन एक्ट–जिसे आगे आर.टी.ई. एक्ट कहेंगे), 2009 की शिक्षाशास्त्रियों, नीति निर्माताओं, नागरिक समाज कार्यकर्ताओं, निजी तथा सरकारी स्कूल व्यवस्था के संस्थानिक प्रतिनिधियों तथा पालक समूहों के द्वारा सराहना तथा आलोचना, दोनों की गई हैं। हालाँकि उसे जारी हुए अभी बहुत ही कम समय हुआ है। इस अधिनियम की धारा 12 (1) (सी) के अन्तर्गत हाशिए पर रह रहे वर्गों के वंचित बच्चों का समावेश करने के लिए निजी स्कूलों में कुल स्थानों पर '25 प्रतिशत आरक्षण के प्रावधान' ने सार्वजनिक बहस छेड़ी है। इस बहस ने संचार माध्यमों का ध्यान खींचा है और इसके परिणामस्वरूप समाज के विभिन्न वर्गों के मतों में तीखा विरोध पैदा हो गया है। निजी स्कूलों (जिन्हें बेहतर 'गुणवत्ता वाली शिक्षा' प्रदान करने वाले स्कूलों की तरह देखा जाता है) में वंचित बच्चों के समावेश को सुनिश्चित करने के इस प्रावधान का शासकीय स्तर पर बचाव किया गया है। तर्क यह है कि निजी स्कूलों को भी सभी के लिए शिक्षा सुलभ कराने के राष्ट्रीय लक्ष्य में अपना योगदान देना जरूरी है। निजी स्कूलों ने, विशेष रूप से, इस प्रावधान को अदालतों में चुनौती दी है। अप्रैल 2012 में, सर्वोच्च न्यायालय ने *सोसाइटी फॉर अनएडेड स्कूल्स ऑफ राजस्थान बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया*[1] मुकदमे में दिए गए अपने फैसले में अधिनियम की वैधता को सही ठहराया और निजी स्कूलों, गैर–सरकारी सहायता प्राप्त तथा गैर–अल्पसंख्यक वर्ग के स्कूलों, दोनों को इस प्रावधान को लागू करने का निर्देश दिया। उसके बाद, मार्च 2014 में, सर्वोच्च न्यायालय की संविधान पीठ ने निर्णय दिया किया कि आर.टी.ई.एक्ट अल्पसंख्यक वर्ग के स्कूलों पर लागू नहीं होगा।[2] इस प्रकार, निजी स्कूलों के लिए उनकी कक्षा 1 तथा पूर्व–प्राथमिक कक्षाओं में 25 प्रतिशत स्थान वंचित बच्चों के लिए सुनिश्चित कर उन्हें निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा प्रदान करने का प्रावधान अल्पसंख्यक वर्ग की संस्थाओं पर लागू नहीं होता।

सर्वोच्च न्यायालय के फैसले के कुछ ही समय बाद कर्नाटक ने आर.टी.ई.एक्ट के अन्तर्गत अपने नियमों को अधिसूचित किया और वह इस प्रावधान को लागू करने वाला भी देश का पहला राज्य बन गया। परन्तु, इन दो बातों के बारे में किसी व्यवस्थित शोध का अभाव था : एक तो यह कि 25 प्रतिशत का यह प्रावधान किस प्रकार सरकार, निजी स्कूलों तथा उससे सीधे लाभान्वित होने वाले लोगों, अर्थात बच्चे और उनके परिवार, के बीच में कार्यान्वित हो रहा था, और दूसरे इसके लागू करने में प्रमुख समस्याएँ क्या थीं। इसलिए, हमने 2012–13 के शैक्षणिक सत्र के दौरान, बेंगलूरु तथा दिल्ली में, दोनों जगह की सम्बन्धित सरकारों द्वारा इस प्रावधान को लागू करने के लिए निर्धारित मानदण्डों और प्रक्रियाओं, तथा इस प्रावधान के माध्यम से स्कूलों में ऐसे बच्चों के समावेश को सुगम बनाने की प्रक्रिया में संलग्न प्रमुख भागीदारों के अनुभवों, इन दो पहलुओं को समझने के लिए खोजबीन करने वाला एक छोटा अध्ययन[3] करने का निर्णय लिया। इस अध्ययन के लिए जानकारी मुख्य रूप से स्कूल तथा कक्षा के स्तर पर विशेष रूप से तैयार प्रश्नावलियों तथा निरीक्षण कार्यक्रमों के माध्यम से, और प्रधान अध्यापकों, अध्यापकों, पालकों, शिक्षा अधिकारियों, निगरानी संस्थाओं

[1] *See, (2012) 6 SCC1*

[2] *Pramati Educational and Cultural Trust & Ors versus Union of India & Ors (Writ Petition (C) No 416 of 2012).*

[3] *This study was done by the Tata Institute of Social Sciences with the Azim Premji University and the Centre for Social Equity and Inclusion with support from Oxfam. For full report, see: http://www.oxfamindia.org/sites/default/files/wp-inclusion-of-marginalised-children-in-private-unaided-schools-190314-en.pdf*

तथा नागरिक समाज के कार्यकर्ताओं से लिए गए अनौपचारिक साक्षात्कारों के माध्यम से इकट्ठी की गई। इस लेख में हम प्रमुख रूप से बेंगलूरु से प्राप्त हुई अपनी प्रमुख जानकारियों पर ध्यान केन्द्रित कर रहे हैं।

कार्यपद्धतियाँ

जानकारी तक पहुँच: कर्नाटक देश के उन थोड़े से राज्यों में से है जहाँ परिपत्र और सूचनाएँ वैबसाइट पर डाल दिए जाते हैं ताकि लोगों की उन तक आसानी से पहुँच हो सके। यहाँ स्कूलों में उपलब्ध स्थानों के कोटे के बारे में जानकारी एक मानचित्र के रूप में न होकर सिर्फ एक सूची के रूप में उपलब्ध थी, जिसके कारण लोगों को उनके आसपास के इलाके के किसी स्कूल को पहचानना व्यवहारिक रूप से सम्भव नहीं था। हालाँकि आर.टी.ई. शिकायतों के लिए एक टोल–फ्री हैल्पलाइन (1800-425-11004) बनाई गई थी, परन्तु देखा गया कि वैबसाइट पर ऐसी कोई जानकारी प्रदर्शित नहीं की गई थी।

पात्रता की कसौटियाँ: 'कमजोर वर्गों' के लिए निर्धारित 3.5 लाख रु. की वार्षिक आय सीमा को जरूरत से ज्यादा मानते हुए उच्च न्यायालय में याचिकाकर्ता के. नागेश तथा गरीबी रेखा से नीचे के दो परिवारों के विद्यार्थियों द्वारा चुनौती दी गई। तब एक सरकारी आदेश जारी किया गया कि प्राथमिकता उन्हें दी जाएगी जिनकी वार्षिक आय 1 लाख रु. से कम है। पर, इससे कमजोर वर्गों में बहुत भरोसा नहीं जागा क्योंकि उन्हें यह डर था कि अच्छी स्थिति वाले परिवार इसके लाभ हथिया लेंगे, और इसके परिणामस्वरूप आर्थिक रूप से सबसे अधिक पात्रता रखने वाले बच्चों का किस हद तक समावेश होगा इसके बारे में उन्हें बहुत सन्देह था। वंचित बच्चों का वर्गीकरण उनके द्वारा सामना किए जाने वाली अनेक प्रकार की प्रतिकूल परिस्थितियों की समस्या का समाधान नहीं करता। वर्तमान कार्यपद्धतियों में कई प्रतिकूल परिस्थितियों वाले बच्चों को परिभाषित करने, उन्हें चुनने और प्राथमिकता देने के बारे में भी प्रावधानों का अभाव है। हालाँकि कारगर ढंग से सही बच्चों तक लाभ पहुँचाने की दृष्टि से प्रवेश के लिए पात्रता प्रमाणीकरण की पूर्व शर्त रखी गई है, परन्तु यह वंचित बच्चों के वर्ग के अन्तर्गत आने वाले उन विशेष उप–समूहों (जैसे कि अनाथ, प्रवासी और सड़कों पर रहने वाले बच्चों) की वास्तविकताओं को नजरअन्दाज कर देता है जो ऐसा प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सकते। इसके फलस्वरूप, ऐसे उप–समूहों में आने वाले बच्चे इस प्रावधान का लाभ उठाते हुए नहीं पाए गए। सरकारी रिकार्डों में इन उप–समूहों के बच्चों के प्रवेश के बारे में कोई उल्लेख नहीं है।

नियंत्रण सम्बन्धी खामियाँ भ्रष्टाचार को बढ़ावा देने वाले सरल रास्ते उपलब्ध करा देती हैं, जिसके परिणामस्वरूप वंचित आबादियों को लाभ पहुँचाने के उद्देश्य से किए जाने वाले अधिकांश सरकारी प्रयासों के फायदों पर 'सम्भ्रान्त वर्ग द्वारा कब्जा' कर लिया जाता है, वास्तव में यह ऐसी योजनाओं का आम लक्षण बन जाता है। कर्नाटक प्राइवेट स्कूल्स ज्वाइंट एक्शन कमेटी ने आरोप लगाया है कि, इस प्रावधान के लागू किए जाने की इस छोटी–सी अवधि में ही, स्कूलों में प्रस्तुत किए 40 प्रतिशत आय प्रमाणपत्र झूठे हैं, जबकि कर्नाटक लोकायुक्त ने जाली आय प्रमाणपत्र के गोरखधन्धे की जाँच का आदेश दिया है।

पास–पड़ोस: निजी स्कूलों में प्रवेश के लिए आवेदन देने वाले सामान्य वर्ग के बच्चों के लिए पास–पड़ोस (नेबरहुड) की परिभाषा के बारे में मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा जारी किए गए मार्गदर्शक नियम लचीले हैं। परन्तु, जो बच्चे 25 प्रतिशत स्थानों के प्रावधान के अन्तर्गत प्रवेश प्राप्त करने के इच्छुक हैं, उनके लिए स्कूल की दूरी की कसौटी कठोरता पूर्वक निर्धारित की गई है। ऐसे निजी स्कूलों के मामले में जो या तो अति संपन्न सामाजिक–भौगोलिक इलाकों में स्थित हैं, या जो कम आबादी वाली उप–नगरीय परिधि के इलाकों में स्थित हैं, उनके आसपास नाममात्र को ही वंचित तबकों की कोई रिहायशी बस्ती होती है, इसलिए इस नियम का फायदा उठाते हुए ऐसे स्कूल 25 प्रतिशत के प्रावधान का पालन करने से बच जाते हैं और शुद्ध रूप से संभ्रान्त बने रहते हैं।

स्कूलों की रिपोर्टें: इस प्रावधान को लागू करने में स्कूलों की जवाबदेही की निगरानी उनके द्वारा सरकार को भेजी जाने वाली अर्ध–वार्षिक अनुपालन रिपोर्टों के माध्यम से की जाती है। परन्तु, इस रिपोर्ट के लिए निर्धारित प्रपत्र (फॉर्म 3) खुद ही भेदभाव पूर्ण है। अन्य चीजों के साथ, इसमें स्कूल में बच्चों के प्रदर्शन (जिसे उनके द्वारा प्राप्त किए गए ए से सी तक के ग्रेड के रूप में देना होता है), खराब ग्रेड प्राप्त करने वाले बच्चों के लिए विशेष प्रशिक्षण के प्रावधान, रोके गए बच्चों की संख्या और रोके जाने का आधार–कारण, और पालकों से की जाने वाली कोई गम्भीर शिकायतें जो 'बच्चों की स्कूली पढ़ाई की आदतों' के बारे में स्कूल को हो सकती हैं, इन सबकी जानकारी

देना आवश्यक होता है। लेकिन, इन बच्चों का समावेश करने में स्कूलों के प्रदर्शन के बारे में, अनुपालन रिपोर्ट के हिस्से की तरह, इसमें पालकों को प्रतिक्रिया देने का कोई अवसर नहीं दिया जाता। अनुपालन के इन विवरणों पर गम्भीर रूप से पुनर्विचार किए जाने की जरूरत है, खासकर यह देखते हुए कि वे ही (वित्तीय रिपोर्टों और लेखा–परीक्षणों के अलावा) स्कूलों की जवाबदेही सुनिश्चित करने के प्रमुख उपकरण हैं।

अत्यधिक शुल्कों और उनकी प्रतिपूर्ति का प्रश्नः ऐसी भेदभाव पूर्ण स्थितियों को और कठिन बनाने वाली समस्याएँ परिवहन सम्बन्धी किसी ऐसे उपाय के न होने से खड़ी होती हैं जो निजी स्कूलों द्वारा प्रति बच्चे को लाने, ले जाने पर वास्तव में किए जाने वाले वार्षिक खर्च का पता लगा सके, और इस तरह सरकार द्वारा प्रतिपूर्ति के रूप में दी जाने वाली राशि और स्कूल की प्रति बच्चे पर आने वाली वास्तविक लागत के अन्तर की जाँच की जा सके। इनमें से कई स्कूलों की रिपोर्टों में निःशुल्क स्थानों पर दाखिल किए गए विद्यार्थियों से लिखने की सामग्री (स्टेशनरी), खेलकूद, यूनिफॉर्म, रख–रखाव तथा प्रशासनिक कार्यों के लिए शुल्क वसूले जाने का उल्लेख किया गया, हालाँकि नियमों के अनुसार यह निर्धारित किया गया है कि इन लागतों को स्कूलों को वहन करना है। इसी प्रकार, पालकों ने दावा किया कि उन्हें यूनिफॉर्म खरीदने, ट्यूशन, किताबों तथा पाठ्यपुस्तकों के लिए 300 रु. से लेकर 15,000 रु. तक प्रति वर्ष खर्च करना पड़ा। अनेक पालकों ने यहाँ तक कहा कि स्कूलों द्वारा उनसे 50 प्रतिशत शुल्कों को चुकाने के लिए कहा गया और बताया गया कि शेष का भुगतान सरकार द्वारा किया जाएगा। कुछ स्कूलों ने तो पालकों को यह आश्वासन देते हुए उनसे शुल्कों का अग्रिम भुगतान करवाया कि उनके द्वारा चुकाए गए शुल्क को सरकार द्वारा की जाने वाली प्रतिपूर्ति के आधार पर उन्हें लौटा दिया जाएगा। निजी स्कूलों के प्रबन्धकों ने दावा किया कि उन्हें स्कूल शुल्कों की प्रतिपूर्ति की पहली किश्त में अपेक्षित राशि से बहुत कम राशि प्राप्त हुई, जो स्कूलों के द्वारा प्रति बच्चे पर किए जाने वाले खर्च का ब्यौरा देने और उसकी जाँच करने की किसी पारदर्शी प्रक्रिया के न होने, और ऐसे ब्यौरों का सरकारी अधिकारियों द्वारा स्वतंत्र लेखा–परीक्षण न किए जाने का सम्भावित परिणाम है।

सरकार ने स्वयं स्वीकार किया है कि पूर्व–प्राथमिक शिक्षा के लिए दी जाने वाली राशि को मनमाने तौर पर निर्धारित किया गया था। यह आँकड़ा कक्षा 1 के लिए निर्धारित राशि को आधा करके निकाला गया था। इसका कारण यह तथ्य भी था कि सरकार के शिक्षा विभाग के द्वारा किन्हीं भी पूर्व–स्कूलों को संचालित न किए जाने की वजह से उसके पास ऐसा कोई आँकड़ा उपलब्ध नहीं था जिसे प्रतिपूर्ति की राशि के निर्धारण का आधार माना जा सकता था।

क्या स्कूल समावेशी बन रहे हैं?

समाज के विभिन्न वर्गों के बच्चों के दाखिलेः शैक्षिक सत्र 2012–13 तथा 2013–14 में 25 प्रतिशत के प्रावधान के अन्तर्गत हुए दाखिलों के सांख्यिकीय आँकड़ों के पुनरीक्षण में पाया गया कि सामाजिक वर्गों की दृष्टि से, प्रवेश पाने वालों में सबसे अधिक अनुपात अन्य पिछड़ी जातियों के बच्चों (58, 69) का था, जिसके बाद अनुसूचित जातियों के बच्चों (39, 28) का और अन्त में अनुसूचित जनजातियों के बच्चों (3, 3) का था। इन दो शैक्षिक वर्षों में, ऐसे स्कूल जिनमें अनुसूचित जातियों के कोई बच्चे नहीं थे क्रमशः 31 तथा 25 प्रतिशत थे। इसी प्रकार जिन स्कूलों में अनुसूचित जनजातियों से कोई नामांकन नहीं थे उनका प्रतिशत क्रमशः 86 तथा 77 था, और अन्य पिछड़ी जातियों से नामांकन न होने वाले स्कूल क्रमशः 24 तथा 7 प्रतिशत थे।[4]

सामाजिक दूरीः यह सही है कि अध्ययन के अन्तर्गत शामिल किए गए स्कूलों में निरीक्षणों और प्रधान अध्यापकों तथा अध्यापकों से हुई बातचीत में भेदभाव सम्बन्धी कोई तात्कालिक चिन्ताएँ उजागर नहीं हुईं। परन्तु, इसका कारण निचली कक्षाओं में बच्चों के बीच में सहज सामाजिक समायोजन होना तथा उनकी छोटी आयु के कारण उन्हें सामाजिक अन्तरों की जाहिर तौर पर पहचान न होना बताया गया। कई शिक्षकों ने तुरन्त इस बात की ओर ध्यान खींचा कि 25 प्रतिशत के प्रावधान के तहत भर्ती किए गए बच्चे अपने को स्कूल के दूसरे बच्चों से 'अलग महसूस' न करें, यह सुनिश्चित करने के लिए उनके माता–पिताओं को बहुत खर्चे और सामग्री जुटाने के भारी प्रयास करना पड़ते थे। इसी के साथ, इन शिक्षकों ने यह आशंका भी जताई कि किस प्रकार 'सामंजस्य' की समस्याएँ तब सामने आएँगी जब ये बच्चे ऊँची कक्षाओं में

[4] *Based on data shared by RTE Cell, Department of Education, Government of Karnataka.*

जाएँगे और अपने एकदम आसपास के सहपाठी–समूह के साथ क्रियाकलापों में सामाजिक अन्तरों को पहचानने लगेंगे। निजी स्कूलों के प्रमुख अध्यापकों द्वारा पूर्वाभास की तरह आमतौर पर दोहराई जाने वाली एक चिन्ता उन परिवारों के आगे चलकर होने वाले अपमान और आत्म–सम्मान को पहुँचने वाली क्षति को लेकर थी जिनके बच्चों को 25 प्रतिशत के प्रावधान के अन्तर्गत एक कथित रूप से सर्वथा भिन्न स्कूली परिवेशों में प्रवेश दिलवाया जा रहा था। उदाहरण के लिए, बेंगलूरु के एक निजी स्कूल, जो शहर की संपन्न आबादी के बच्चों को शिक्षा प्रदान करने के लिए जाना जाता है, के प्रधान अध्यापक ने कहा कि, 'मान लीजिए कि स्कूल में एक तरण ताल (स्विमिंग पूल) और कैंटीन आदि, की सुविधा है और सब चीजों का पैसा लगता है, तो ऐसे बच्चे की मानसिक स्थिति तब क्या होगी जब वह अपने सहपाठियों को उन सब सुविधाओं का उपयोग करते हुए देखेगा?' प्रबन्धकों में से अधिकांश उत्तरदाताओं ने ऐसे विद्यार्थियों की इन परिस्थितियों का सामना करने की क्षमता के बारे में चिन्ताएँ व्यक्त कीं, और उनके उत्तरों में सामाजिक दूरी तथा ऐसे बच्चों के प्रति दया और एहसान का भाव बहुत स्पष्ट रूप से प्रकट हुआ (बॉक्स 1 देखें)।

समरूप कक्षाएँ: यह सुनिश्चित करने के लिए कि कक्षाएँ समरूप बनी रहें, कुछ स्कूलों ने ऐसे विद्यार्थियों को, जो पहले ही चुने जा चुके थे और प्रवेश पा चुके थे, आर.टी.ई. के अन्तर्गत 'छात्रवृत्ति' के लिए 'आवेदन देने' को प्रोत्साहित किया था। ऐसे बच्चों के पालकों को परामर्श दिया गया और उनसे पात्रता तथा दाखिले की आवश्यकताओं को 'पूरा करने' का निवेदन किया गया।

बाक्स 1: स्कूल प्रबन्धकों में से कुछ उत्तरदाताओं ने जो कहा:

'मैं ठीक से नहीं जानता कि यह कितना उपयोगी है। हमारे यहाँ पाठ्यक्रम के अतिरिक्त स्कूल में चलने वाली बहुत सी गतिविधियाँ हैं, जैसे कि ताइक्वांडो तथा अन्य खेलकूद। हमारे स्कूल के कई बच्चे ऐसी गतिविधियों को बहुत गम्भीर रूप से अपनाने का इरादा रखते हैं। आर.टी.ई. वाले बच्चे ऐसी गतिविधियों का क्या करेंगे? क्या आप सोचते हैं कि वे इन्हें आगे जारी रखेंगे? मेरे बच्चे ताइक्वांडो में स्कूल का प्रतिनिधित्व करते हैं और उसकी राष्ट्रीय स्तर की परीक्षाएँ भी देते हैं – क्या आर.टी.ई. वाले बच्चे उसे इतनी गम्भीरता से लेंगे?'

'मैं नहीं सोचता कि यह हमारे लिए उपयोगी है। मुझे नहीं लगता कि हमें उनसे कोई लाभ हो सकता है। हो सकता है कि उन्हें हमसे कुछ लाभ हो। हालाँकि मुझे निश्चित तौर पर ऐसा नहीं लगता'।

'आर.टी.ई. अच्छा है, कम से कम वे बच्चे कुछ सीख तो सकेंगे, अन्यथा पहले तो वे जानवरों की तरह बड़े हो रहे थे।'

'इन बच्चों को सुधारना कठिन है क्योंकि वे कुछ नहीं जानते और वे गंदे होते हैं।'

ऐसे स्कूलों ने ठीक उतने ही आवेदन प्राप्त होने की घोषणा की जितने स्थान स्कूल में उपलब्ध थे और इस तरह उन्होंने पहले ही दिए जा चुके दाखिलों पर यथास्थिति बरकरार रखी। चूँकि हमने इस प्रावधान के पहले वर्ष में उसके लागू किए जाने का अध्ययन किया, इसलिए कुछ स्कूलों ने स्वीकार किया कि उन्हें ऐसी तरकीबें अपनाना पड़ीं क्योंकि उनके पास कोई आवेदन ही नहीं थे और वे अपने दायित्वों को पूरा करने में चूकना नहीं चाहते थे।

समावेश के उपाय: हमारे अध्ययन ने यह भी दिखाया कि 'समावेश' को 'दूसरे बच्चों' को स्कूल में समेकित करने की 'समस्या' के रूप में, और आर.टी.ई. को 'गरीब बच्चों को निजी स्कूलों में पढ़ने, जो कि उनकी आर्थिक क्षमता के बाहर था, के लिए मदद करने' के प्रयास की तरह देखा गया। पर सामाजिक भिन्नताओं वाली विद्यार्थी आबादी की अन्तर्निहित क्षमता को ध्यान में रखते हुए उच्च–वर्गीय निजी स्कूलों में से किसी के लिए भी, उनकी मौजूदा समरूपी शिक्षा के दृष्टिकोण को बदलने की सम्भावना को व्यक्त नहीं किया गया। इसलिए अचरज की बात नहीं कि सर्वेक्षण किए गए स्कूलों में से बहुत थोड़े ही ऐसे थे जिन्होंने इन बच्चों के समावेश को सुगम बनाने के लिए कोई विशेष उपाय किए थे। ये उपाय भी परिपूर्ण और प्रभावशाली होने के बजाय न्यूनतम तथा सांकेतिक थे। इन उपायों में से कुछ इस प्रकार थे : 25 प्रतिशत के प्रावधान के तहत जिन बच्चों का नामांकन हुआ हो उनकी पहचान को गोपनीय रखना, इन बच्चों के लिए स्कूल के समय के बाद अतिरिक्त सहायता कक्षाएँ लगाना, तथा इन बच्चों के पालकों के साथ पोषण पर कार्यशालाएँ आयोजित करना। परन्तु, शिक्षकों में से कोई भी आर.टी.ई. के अन्तर्गत सम्बन्धित प्रावधानों से परिचित नहीं थे। न ही उन्हें कक्षा में विविध पृष्ठभूमि वाले बच्चों को सम्भालने के लिए सरकार के द्वारा या स्कूल प्रबन्धन के द्वारा प्रशिक्षण या

उन्मुखीकरण के रूप में कोई विशेष सहायता दी गई थी। यहाँ तक कि जो पालक इस प्रावधान के तहत अपने बच्चों को इन स्कूलों में दाखिला दिलवाने में सफल रहे थे, वे भी अपने हकों के बारे में अनभिज्ञ थे। स्कूलों ने अपनी रिपोर्टों में उल्लेख किया कि पालक शिक्षक संघ (पेरेंट्स टीचर्स एसोसिएशन्स) में माता–पिता बहुत ही कम भाग लेते थे।

निगरानी: इस सन्दर्भ में संचार माध्यमों में प्रचार और नागरिक समाज के संगठनों के द्वारा जागरूकता कार्यक्रम चलाए गए हैं। इसके फलस्वरूप कुछ पालकों ने बाल अधिकारों की सुरक्षा के लिए बने कर्नाटक राज्य आयोग में निजी स्कूलों द्वारा दाखिले के फार्म न दिए जाने और अतिरिक्त शुल्क वसूले जाने की शिकायतें दर्ज कराईं। आयोग ने इन मामलों में कार्यवाही करते हुए उन्हें या तो शिक्षा विभाग को सौंपा या सार्वजनिक सुनवाई की पद्धति के माध्यम से सिफारिशें कीं। परन्तु, आयोग ने समावेश की प्रक्रिया को सशक्त बनाने के लिए सरकार से कोई व्यापक नीतिगत सिफारिशें नहीं की हैं।

निष्कर्ष

आर.टी.ई. एक्ट और उसका 25 प्रतिशत वाला प्रावधान अभी अपने प्रारम्भिक चरणों में है। कानून बनाने वालों ने समावेश के जिस बड़े लक्ष्य को हासिल करने के उद्देश्य से उसे पारित किया था, वह अभी भी दूर बना हुआ है, क्योंकि अफसरशाही फिलहाल निजी स्कूलों के प्रतिवादों का निराकरण करने की कोशिश कर रही है, ताकि पहले यह सुनिश्चित किया जा सके कि वे अपने दरवाजे खोलें और ऐसे बच्चों को प्रवेश प्रदान करें। हालाँकि, दाखिले पहला कदम हो सकते हैं, परन्तु उन्हें परिपूर्ण समावेश नहीं समझा जा सकता जिसके लिए उस तरीके में मूलभूत परिवर्तन होना जरूरी है जिस तरह स्कूलों का ढाँचा बना हुआ है और जिस तरह उनमें पढ़ाई होती है। राज्य सरकार को इस प्रावधान को लागू करने की अपनी व्यवस्थाओं को सरल और मजबूत बनाने, उन तक पहुँच को ज्यादा सुगम तथा पारदर्शी बनाने और हर स्तर पर उनकी सामाजिक निगरानी किए जाने की जरूरत है।

अर्चना मेहेंदले टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज, मुम्बई के स्कूल ऑफ एजुकेशन में विजिटिंग फैकल्टी हैं। वे बाल अधिकारों, शिक्षा और अक्षमताओं के क्षेत्र में काम करती हैं। उनसे archana.mehendale@tiss.edu पर सम्पर्क किया जा सकता है।

राहुल मुखोपाध्याय अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय, बेंगलूरु में फैकल्टी के सदस्य हैं। उनकी शोध की रुचियाँ शिक्षा के समाजशास्त्र, शिक्षा नीति तथा संगठनों के समाजशास्त्र के क्षेत्र में हैं उनसे rahul.mukhopadhyay@apu.edu.in पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद**: भरत त्रिपाठी

स्कूल शिक्षण में लिंगभेद: कारण तथा परिणाम

ज्योत्सना लता बेल्लिअप्पा

भारत में 20वीं सदी के अधिकांश दौर में तथा 21वीं सदी में महिलाओं ने काफी बड़ी संख्या में शिक्षण के व्यवसाय में प्रवेश किया। इसके पीछे कई कारण हैं। सरकारी नीति के स्तर पर यह तय किया गया कि स्कूलों में लड़कियों का नामांकन बढ़ाने के लिए हर प्राथमिक स्कूल में आदर्श रूप से कम से कम एक महिला शिक्षक होना चाहिए। इस लक्ष्य को हासिल करने के लिए, अनेक शिक्षक प्रशिक्षण केन्द्र विशेष रूप से महिलाओं के ही लिए स्थापित किए गए और महिला शिक्षकों को दूरदराज के इलाकों में काम करने के लिए प्रोत्साहन राशियाँ भी दी गईं (मांजरेकर, 2013)। सरकारी नीतियों के अतिरिक्त, समाज में व्याप्त धारणाओं और प्रचलनों ने भी शिक्षण में महिलाओं के प्रवेश को आमतौर पर सहयोग दिया है। मध्यम वर्गों में, शिक्षण को महिलाओं के लिए उपयुक्त व्यवसाय के रूप में देखा जाता है, क्योंकि इसे कम परिश्रम माँगने वाला माना जाता है (अनेक अन्य नौकरियों की तुलना में इसके काम के घण्टे कम होते हैं) और इसलिए घर–गृहस्थी तथा बच्चों की देखभाल की जिम्मेदारियों के साथ इसे सुसंगत समझा जाता है। स्कूल शिक्षक के रूप में अपने स्वयं के कार्यकाल के दौरान मुझे अकसर, इसे 'एक महिला के लिए आदर्श नौकरी' बताए जाते हुए, यह व्यवसाय चुनने के लिए सराहना मिली।

समाज के मूल्यों तथा सरकार की नीतियों के परिणामस्वरूप, स्कूलों के शिक्षण में महिलाओं का अनुपात काफी ऊँचा है। डी.आई.एस.ई. (डिस्ट्रिक्ट इनफॉर्मेशन सिस्टम फॉर एजुकेशन–शिक्षा के लिए जिला सूचना व्यवस्था) के 2012–13 के आँकड़े दर्शाते हैं कि भारत के सभी प्राथमिक स्कूल शिक्षकों में से लगभग 50% तथा सभी माध्यमिक स्कूल शिक्षकों में से 40% महिलाएँ हैं (ये आँकड़े नियमित या स्थायी शिक्षकों के हैं, अनुबन्धित शिक्षकों के नहीं)। इसके पहले, 2008–09 के लिए डी.आई.एस.ई. के द्वारा प्रकाशित विश्लेषणात्मक रिपोर्टों में अनुमान लगाया गया था कि शहरी क्षेत्रों के प्राथमिक स्कूल शिक्षकों में 66.15% तथा ग्रामीण क्षेत्रों के प्राथमिक स्कूल शिक्षकों में 37.2% महिलाएँ हैं। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या संख्याओं में महिलाओं की इस बहुलता के परिणामस्वरूप इस व्यवसाय में लिंग के सापेक्ष अधिक न्यायपूर्ण स्थिति पाई जाती है? दुर्भाग्य से, हमेशा ऐसी स्थिति नहीं होती।

एक तो, जैसा कि उपरोक्त आँकड़े दर्शाते हैं, महिलाओं की सघनता प्राथमिक स्कूलों के शिक्षण में हैं, जबकि हाईस्कूलों में आमतौर पर बड़ी संख्या में पुरुषों का प्रतिनिधित्व होता है। इसका कारण अकसर यह बताया जाता है कि, महिलाओं में मातृत्व की 'नैसर्गिक' प्रवृत्ति होने के कारण, वे छोटे बच्चों की देखभाल करने और उनका पोषण करने में बेहतर तरीके से समर्थ होती हैं। प्राथमिक स्कूल शिक्षकों के विपरीत, हाई स्कूल शिक्षक विषयों के विशेषज्ञ होते हैं और अकसर उनके पास स्नातकोत्तर उपाधियाँ होती हैं। इसके परिणामस्वरूप, हाईस्कूल शिक्षण आमतौर पर अधिक सम्मानजनक और बेहतर वेतन वाला व्यवसाय होता है। लेकिन छोटे बच्चों को पढ़ाने के लिए आवश्यक विशेष ज्ञान और कौशलों का इस तरह 'नैसर्गीकरण' किया जाना बहुत समस्यापूर्ण है।

बेंगलूरु में 2012 में दी गई एक वार्ता में प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री तथा विद्वान, प्रोफेसर कृष्णकुमार ने तर्क दिया था कि शिक्षक कुछ ऐसे विशेष "सभ्यतामूलक कार्यों" का निष्पादन करते हैं जो समाज की पुनरुत्पत्ति के लिए अति आवश्यक होते हैं। वे बच्चों को उनके ऐंद्रिक अनुभवों को शब्दों में निरूपित करना, अपने आसपास की चीजों पर गौर करना और अन्य लोगों से संवाद करना सिखाते हैं। सभी बच्चे प्राथमिक स्कूलों में ही फलों, सब्जियों तथा जानवरों को नाम देना, आकारों, रंगों तथा रोजमर्रा की चीजों को पहचानना और घर पर हासिल की गई शब्दावली को आगे बढ़ाना सीखते हैं। यहाँ तक कि कुछ बच्चे ऐसी भाषा भी सीख लेते हैं जो उनके घर पर नहीं बोली जाती। इस तरह, प्राथमिक स्कूल शिक्षकों का काम, बच्चों को तीनों 'आर' (पढ़ना, लिखना तथा अंकगणित) सिखाने के अलावा, उन्हें सामाजिक प्राणी बनने में समर्थ बनाना भी होता है।

इतने नाजुक और महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए सावधानीपूर्वक नियोजन तथा तैयारी किए जाने की आवश्यकता होती है। प्राथमिक स्कूल के शिक्षकों को ऐसे चार्टों, रेखाचित्रों और त्रि–आयामी प्रतिरूपों को निर्मित करने की जरूरत पड़ती है जो उनके विद्यार्थियों की जिज्ञासा को उकसाएँ और उनके दिमागों को आकर्षित करके संलग्न करें। उन्हें अमूर्त विचारों को, उनके विद्यार्थियों की उम्र और सन्दर्भ के अनुरूप सरल भाषा में सम्प्रेषित करने के लिए उनको स्पष्ट करने वाले सरल उदाहरण सोचने की जरूरत होती है। वे बच्चों की विविध प्रकार की सीखने की जरूरतों को पूरा करने के लिए अपने पढ़ाने वाले पाठों को अलग–अलग बच्चों के लिए व्यक्तिगत बनाने का प्रयास करते हैं। यह कहकर कि ऐसे विशेष कौशल महिलाओं के लिए 'नैसर्गिक' होते हैं, हम न केवल उस प्रशिक्षण का अवमूल्यन करते हैं जो उन्हें उनकी भूमिका को प्रभावशाली ढंग से निभाने में सक्षम बनाता है, बल्कि यह भी संकेत देते हैं कि पुरुषों में ऐसा कर पाने की उपयुक्त क्षमताएँ नहीं होतीं।

प्राथमिक स्कूल शिक्षक की तरह अपने प्रारम्भिक दिनों में मैंने एक असाधारण रूप से प्रतिभाशाली पुरुष सहकर्मी के साथ काम किया जो डेनमार्क से भारत के दौरे पर आए थे। वे एक प्रतिभावान संगीतज्ञ और कवि थे। वे अकसर अपना गिटार कक्षा में ले आते थे। वे भूगोल, विज्ञान तथा इतिहास की अवधारणाओं को पढ़ाने के लिए गीत रचते थे। कक्षा शिक्षक होने के कारण उन्होंने विद्यार्थियों से घनिष्ठ रिश्ते बना लिए थे। वे उनके साथ मिलकर न केवल उनके जन्मदिन, बल्कि अपना जन्मदिन भी गीतों और संगीत के साथ मनाते थे। वे अपने छोटे बच्चे को अपने विद्यार्थियों से मिलाने के लिए ले आते थे। यह कहने की जरूरत नहीं कि बच्चों को उनकी कक्षा में आनन्द आता था और वे अपने शिक्षक को बहुत चाहने लगे। पर अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उन्होंने बच्चों को एक अधिक फिक्र करने वाले, मृदुल प्रकार के ऐसे पुरुषत्व को सराहना सिखाया जो बच्चों की संगति में खिलता और पनपता है। दुर्भाग्य से, उनके जाने के बाद प्राथमिक कक्षाएँ फिर से ज्यादातर महिला शिक्षकों का स्थान बन गईं और पुरुष शिक्षक हाईस्कूल या शारीरिक शिक्षा विभाग तक सीमित हो गए। स्कूल के छिपे हुए पाठ्यक्रम में रूढ़िबद्ध पुरुष और महिला छवियाँ फिर से उभरकर सामने आने लगीं।

जैसा कि मैंने पहले उल्लेख किया, अधिकांश दफ्तरी नौकरियों की तुलना में, पढ़ाने के पेशे में ज्यादा लम्बे अवकाश मिलने और काम के घण्टे कम होने की वजह से, उसे वेतनभोगी कार्य और घरेलू जिम्मेदारियों में तालमेल बिठा सकने के लिए आदर्श माना जाता है। पर यह धारणा उस कार्य को शामिल करने और समझाने में असफल रहती है जो 'सुधार कार्य' (विद्यार्थियों के काम को सुधारना, उसका आकलन करना और उस पर अंक देना) के रूप में शिक्षक घर ले जाते हैं, और जो कक्षा में पढ़ाने की तैयारी के लिए वे घर पर करते हैं। हालाँकि शिक्षक घर तो जल्दी पहुँच जाते हैं, परन्तु उनके काम के घण्टे देर शाम तक चलते रहते हैं जब वे विद्यार्थियों के काम को जाँचने और अंक देने का काम करते हैं। बेंगलूरु के स्कूल शिक्षकों की पेशेवर पहचानों के बारे में चल रही मेरी शोध परियोजना के हिस्से की तरह मैंने जब एक अवकाश प्राप्त शिक्षिका का साक्षात्कार लिया तो उन्होंने दावा किया कि अपनी कक्षा के 77 विद्यार्थियों की कापियाँ जाँचने के लिए वे नियमित रूप से रात के 3 बजे उठ जाती थीं! जाँचने के काम के अलावा, कक्षा के लिए जिस पूर्वतैयारी की मैंने पहले बात की, वह भी अकसर स्कूल के घण्टों के बाद ही होती है।

1970 के दशक में, महिलावादी समाजशास्त्री, ऐन ओकले ने तर्क दिया था कि घर–गृहस्थी का कार्य जो महिलाओं के द्वारा उनके पतियों के दफ्तर और बच्चों के स्कूल चले जाने के बाद किया जाता है, उनकी आँखों से ओझल बना रहता है, और इसलिए उसका परिवार तथा समाज द्वारा अवमूल्यन किया जाता है। इसी प्रकार, शिक्षक आकलन तथा तैयारी का जो कार्य करते हैं उसे विद्यार्थियों, उनके माता–पिताओं तथा स्कूलों के प्रशासकों के द्वारा शायद ही कभी स्वीकार किया और सराहा जाता है; घरेलू काम की तरह यह कार्य भी घर पर किया जाता है, और इसलिए वह 'अदृश्य' बना दिया जाता है। अन्य वेतनभोगी महिलाओं की तरह जो रोजगार का उत्तरदायित्व लेती हैं, महिला शिक्षक भी एक साथ कई काम करने में कुशल हो जाती हैं, और कापियाँ जाँचने तथा अगले दिन के पाठ की पूर्वतैयारी करने के साथ ही साथ वे खाना बनाने, सफाई करने और अपने खुद के बच्चों के गृहकार्य की निगरानी करने और उसमें उनकी सहायता करने के काम भी निपटाती हैं। कुछ साल पहले, मेरी साथियों, एस. इन्दुमती तथा इंदिरा विजयसिंह के द्वारा पुरुष और महिला शिक्षकों के बारे में की गई एक शोध परियोजना में पाया गया कि पुरुष शिक्षक स्कूल के बाद अकसर अपना समय खेलों, मनोरंजन की गतिविधियों और मित्रों के साथ मिलने–जुड़ने में व्यतीत करते हैं, जबकि महिला शिक्षक अपना बाद का समय घर–गृहस्थी के बचे हुए काम

निपटाने में लगाती हैं। इससे यह निष्कर्ष निकालना आसान है कि किसके पास अपने पेशेवर विकास की गतिविधियों के लिए अधिक समय रहता है।

यह मुझे अपने अन्तिम मुद्दे पर ले आता है, कि शिक्षा के क्षेत्र में बहुत कम महिलाएँ नेतृत्व के पदों पर हैं। केवल लड़कियों के लिए बने निजी स्कूलों के अपवादों को छोड़कर, हमें स्कूल के प्राचार्य के रूप में महिलाएँ बहुत कम दिखाई देती हैं। उनकी पारिवारिक जिम्मेदारियों के चलते, महिलाओं को अपने कौशलों को विकसित करने का, या प्रबन्धन के पदों के लिए तैयार होने के लिए अपनी शैक्षिक योग्यताओं को बढ़ाने का समय बहुत ही कम मिलता है। अनेक महिलाएँ अपना कार्यकारी जीवन कक्षा की शिक्षिकाओं के रूप में प्रारम्भ करती हैं और उसी रूप में उसे अन्त करती हैं, केवल उनके विद्यार्थियों के आयु–वर्ग में या उनके द्वारा पढ़ाए जाने वाले विषयों में कुछ परिवर्तन होता है। इसके परिणामस्वरूप, स्कूल भी अन्ततः परिवार और समुदाय के उन्हीं पारम्परिक लिंगभेद–आधारित सत्ता के ढाँचों को प्रतिबिम्बित करने लगते हैं, जिनमें सत्ता ज्यादातर पुरुषों के हाथों में रहती है। यह न केवल कक्षाओं में महिला शिक्षकों के अधिकार को कमजोर बना देता है, बल्कि, पुरुषों के नेतृत्व सम्भालने की और महिलाओं के देखभाल करने की अधीनस्थ भूमिकाएँ निभाने के कारण, पुरुषत्व और नारीत्व की पारम्परिक धारणाओं को मजबूत बनाता है।

यदि शिक्षा का प्राथमिक उद्देश्य सामाजिक परिवर्तन लाना और विद्यार्थियों को संसार के बारे में सहज स्वीकार की जाने वाली मान्यताओं पर प्रश्न उठाने में समर्थ बनाना है, तो स्कूल शिक्षण के विभिन्न क्षेत्रों में पुरुषों और महिलाओं के असन्तुलित प्रतिनिधित्व को चुनौती दिए जाने की जरूरत है। महिलाओं को हाईस्कूल शिक्षण में नियुक्त करने, और प्राथमिक स्कूल शिक्षण को पुरुषों के लिए आकर्षक बनाए जाने के निष्ठापूर्ण प्रयास किए जाना बेहद जरूरी है। पुरुष और महिला, दोनों तरह के शिक्षकों को इसके प्रति संवेदनशील बनाया जाना चाहिए कि वे कक्षाओं में पारम्परिक लिंगभेद–आधारित रूढ़िवादी छवियों को पुष्ट करने से बचें, साथ ही महिलाओं को शिक्षा में नेतृत्व के पदों को सम्भालने के लिए प्रोत्साहित किए जाने की और उन्हें इसके लिए पर्याप्त प्रशिक्षण दिए जाने की जरूरत है। यदि ऐसे कदम गम्भीरतापूर्वक और निरन्तरता के साथ उठाए जाते हैं, तो हम अगले दस या पन्द्रह सालों में न केवल शिक्षण के पेशे में लिंग की दृष्टि से अधिक न्यायपूर्ण बराबरी ला सकेंगे, और स्कूली शिक्षा में लिंगभेद पर आधारित श्रम के विभाजन को चुनौती दे सकेंगे, बल्कि युवा पीढ़ी को शिक्षा में, बच्चों की देखभाल करने में और व्यापक रूप से वयस्क जीवन में पुरुषों तथा महिलाओं की भूमिकाओं का अधिक समावेशी दृष्टिकोण निर्मित करने में समर्थ भी बना सकेंगे।

References

- Belliappa, J and de Souza, S. 'Gender and the Limits of Agency: Exploring the Memories of Anglo-Indian School Teachers in Bangalore' at Orecomm Festival: Memory on Trial, September, 2013, Malmo Sweden
- DISE/ National University of Educational Planning and Administration (2012) Secondary Education in India: Progress towards Universalisation: DISE 2012-13 (Provisional, as on 30th September2012) UDISE, New Delhi
- DISE/National University of Educational Planning and Administration (2013) Primary Education in India: Progress towards UEE Flash Statistics DISE 2013-14 (Provisional, as on 30th September2013) UDISE, New Delhi
- Indumathi. S and Indira Vijaysimha (2011) 'Women in teaching: impossible fiction or fulfilling lives?' CESI Conference, Hyderabad 12-14th November, 2011
- Krishna Kumar, 'What Teachers Do' Ten Talks The Teacher Foundation Bangalore, Novemeber, 2012
- Manjrekar, N. (2013) 'Women School Teachers in New Times: Some Preliminary Reflections' Indian Journal of Gender Studies 20: 335
- Mehta, A.C. (2011) Analytical Report: 2008-09: Elementary Education: Progress towards UEE National University of Educational Planning and Administration http://dise.in/Downloads/Publications/Publications%202008-09/AR%202008-09/Introduction.pdf
- Oakley, A. (1975) The Sociology of Housework Pantheon Books, New York

ज्योत्सना लता बेल्लिअप्पा अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय, बेंगलूरु में फैकल्टी की सदस्य हैं। एक स्कूल शिक्षक के रूप में, उन्होंने प्राथमिक स्कूल में सामाजिक अध्ययन तथा भाषा तथा कला विषय पढ़ाए तथा माध्यमिक स्कूल में समाजशास्त्र पढ़ाया। वर्तमान में वे स्कूल शिक्षकों में लिंगभेद और पेशेवर पहचान के बारे में एक शोध परियोजना में कार्यरत हैं। उनसे jyothsna.belliappa@apu.edu.in पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवादः** भरत त्रिपाठी

सामाजिक न्याय के लिए शिक्षक तैयार करना: कर्नाटक का एक अनुभव

मैथिली रामचन्द[1]

शिक्षकों की तैयारी सामाजिक न्याय के लक्ष्य की ओर बढ़ने में एक "गतिशील वाहन" हो सकती है (हैन्सन, 2008)। सामाजिक न्याय दार्शनिक रूप से विवादित और मानदण्ड सम्बन्धी अवधारणा हो सकती है (गुडलैड, 2002)। लेकिन, वहीं राल्स के लिए "न्याय सामाजिक संस्थाओं का पहला गुण होता है" (राल्स, 1971; पृ. 3)। नोवक भी तर्क देते हैं कि सामाजिक न्याय व्यक्तियों के "चिन्तन तथा विचारशील कृत्यों" पर आधारित गुण होता है (ग्रांट एवं अगोस्टो, 2008; पृ. 98 में उद्धृत)।

हमारे जैसे ऊँच–नीच के पदानुक्रमों के आधार पर स्तरों में बँटे हुए समाज में, शिक्षकों की शिक्षा भावी शिक्षकों को भेदभाव के मुद्दों पर समीक्षात्मक रूप से विचार करने और सचेत रूप से समावेशी शिक्षण पद्धतियों को अपनाने का प्रयास करने की प्रक्रिया में संलग्न करने के द्वारा आशा की एक झलक प्रदान करती है। अभी तक भिन्न–भिन्न गुणवत्ता वाले और अलग–अलग वर्गों के बच्चों को शिक्षा देने वाले विविध प्रकार के स्कूलों के माध्यम से होने वाली असंवेदनशील शिक्षण पद्धतियाँ और विचारहीन पाठ्यक्रमों वाली स्कूली पढ़ाई अन्यायों और पक्षपातों को सतत बनाए रखने में एक कारक बनी रही है (कुमार 1989; नाम्बीस्सन एवं राव, 2013)।

बच्चों को निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा का अधिनियम, 2009 यह सुनिश्चित करने का एक प्रयास है कि (कम से कम 6 से 14 वर्ष के आयु समूह में) हर बच्चे को 'गुणवत्ता पूर्ण' शिक्षा प्राप्त हो, जिसमें गुणवत्ता के मापदण्डों का स्पष्ट उल्लेख हो। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 और उससे सम्बन्धित स्थिति आधारपत्रों ने पाठ्यक्रम के मुद्दों पर होने वाले विमर्श को व्यापक बना दिया है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात है कि यह विमर्श यह सुनिश्चित करने की जिम्मेदारी शिक्षकों पर डालता है कि उनकी कक्षा का हर बच्चा स्कूली पढ़ाई के अनुभवों को सार्थक रूप से आत्मसात करने में समर्थ हो।[2] शिक्षकों की शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (एन.सी.एफ.टी.ई., 2009) इस भूमिका को निभाने के लिए शिक्षकों को तैयार करने हेतु कुछ मार्गदर्शक सुझाव देती है।

कर्नाटक के शिक्षा में डिप्लोमा (डी.एड.) पाठ्यक्रम ने समावेशी शिक्षा को सम्पूर्ण पाठ्यक्रम में व्याप्त एक दर्शन के रूप में प्रस्तुत करने के माध्यम से एन.सी.एफ.टी.ई, 2009 की संकल्पना को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। समावेशी शिक्षा की कल्पना सामाजिक न्याय के व्यापक दृष्टिकोण से की गई है। यूनेस्को (2008) के अनुसार, समावेशी शिक्षा स्कूली पढ़ाई की व्यवस्था को हर बच्चे की जरूरतों को पूरा करने के लिए सशक्त बनाने की प्रक्रिया है। बच्चों को स्कूल के अनुरूप ढलने के बजाय, व्यवस्था (शिक्षक जिसका महत्त्वपूर्ण हिस्सा निर्मित करते हैं) को बच्चों की जरूरतें पूरी करने के लिए रूपान्तरित होना जरूरी है।

यह लेख संक्षेप में इसकी रूपरेखा प्रस्तुत करता है कि इस पाठ्यक्रम तथा उससे जुड़ी सामग्री में किन चीजों को शामिल किया गया है। साथ ही यह इस सामग्री का छात्राध्यापकों के एक छोटे समूह के साथ प्रायोगिक परीक्षण करने से प्राप्त हुए अनुभवों को भी साझा करता है।

डी.एड. कार्यक्रम के लिए समावेशी शिक्षा पर पाठ्यक्रम तथा अन्य सामग्री का विकास

"कानून, नीतियाँ तथा नियम एक उदारवादी विचारधारा को साकार करने के लिए निर्मित किए जाते हैं, लेकिन

---

[1] *I thank Ruma Banerjee for convincing me to get involved in inclusive education and for sustained partnership in the work related to this area.*

[2] *For the historically underprivileged, schooling not only provides meaningless experiences but also actively perpetuates feelings of poor self esteem and hegemonic values. This has been well documented. (See for example: Krishna Kumar's (1989) observation of a tribal boy's experience in a social studies class or Murali Krishna's 'Pedagogic Practice and the Violence Against Dalits in Schooling' in Sleeter et al, 2012). Also, for children with disabilities, the experience has been segregation even where 'integration' was attempted (Saxena, 2012).*

उन्हें ऐसी संस्कृति में रोपा और बढ़ने के लिए छोड़ दिया जाता है जो उस समतावादी आचरण के प्रतिकूल होती है जिसको वे आधार मानते हैं" (जुनेजा, 2011; पृ.165)। इसलिए चुनौती एन.सी.एफ.टी.ई. 2009 सहित हाल ही में बनाए गए कानूनों तथा नीतियों की समतावादी आकांक्षाओं को जमीनी वास्तविकता में परिवर्तित करने की थी।

पाठ्यक्रम की तैयारी एक परामर्श पर आधारित प्रक्रिया थी।[3] उससे एक आम सहमति निकलकर आई कि जहाँ समावेशी शिक्षा के दृष्टिकोण को पूरे पाठ्यक्रम में व्याप्त होना चाहिए, वहीं छात्राध्यापकों को उसकी एक अवधारणात्मक समझ भी जरूर हासिल करना चाहिए। इसी जरूरत को देखते हुए, समावेशी शिक्षा को एक इकाई के रूप में शिक्षा के अध्ययन के पाठ्यक्रम में शामिल किया गया है। यह इकाई समावेशी शिक्षा के अवधारणात्मक आधारों को स्पष्ट करती है; समावेश की राह में आने वाले अवरोधों की पहचान करके उनसे पार पाने के तरीकों और साधनों को प्रस्तुत करती है; विविधता को एक संसाधन के रूप में सराहती है; और सीखने के समावेशी परिवेशों को निर्मित करने के लिए मार्गदर्शक सुझाव देती है।

जिस कार्यदल ने पाठ्यक्रम का मसौदा तैयार किया, वह शिक्षकों को शिक्षा देने वालों के लिए एक सहयोगी पुस्तिका तथा छात्राध्यापकों के लिए पढ़ने की सामग्री तैयार करने के काम में भी शामिल था।

छात्राध्यापकों के लिए पढ़ने की सामग्री तैयार करते समय निम्नलिखित मार्गदर्शक बिन्दुओं को ध्यान में रखा गया (नवानी, 2010; पृ.158) :

- पाठ्यक्रम की शैक्षणिक आवश्यकताओं को पूरा करना
- छात्राध्यापकों की विकासात्मक जरूरतों का समाधान करना
- उनके सामाजिक, सांस्कृतिक सन्दर्भों को ध्यान में रखना
- सीखने के सन्दर्भ की माँगों की पूर्ति करना

समावेशी शिक्षा पर उपलब्ध साहित्य विशाल और विविध प्रकार का है। उसे ऐसे रूप में प्रस्तुत करना, जो छात्राध्यापकों के लिए समझने में सुगम हो तथा उसकी विषयवस्तु को उनकी सामाजिक, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के सन्दर्भ से जोड़ना एक चुनौतीपूर्ण कार्य था (मैथिली, 2011)। बाहरी विशेषज्ञों से परामर्श करने तथा आन्तरिक बैठकों के दौर में मसौदे की सामग्री की कई पुनरावृत्तियों के बाद उसे तैयार किया गया। पाठ्यसामग्री तैयार करने की कार्यप्रणाली मुख्य रूप से विचार करने के लिए विभिन्न प्रकार के प्रश्न उठाते हुए शैली को बातचीत के जैसी रखने की और मुद्दों तथा विचारों को छोटे–छोटे वृतान्तों, चित्रों, समाचारपत्रों के लेखों तथा संक्षिप्त जीवनियों के द्वारा स्पष्ट करने की थी।

कुछ चुने हुए छात्राध्यापकों के साथ पढ़ने की सामग्री का प्रायोगिक परीक्षण[4]

अगला चरण मसौदे की सामग्री को बेंगलूरु के तीन डी. एड. कालेजों में बीस छात्राध्यापकों के साथ आजमाकर देखने का था।

उनके साथ काम करने का तरीका प्रमुख रूप से संवाद का था। पढ़ने की सामग्री को पुस्तकों से लिए गए अन्य प्रासंगिक लेखों, अध्यायों तथा फिल्मों के अंशों से संवर्धित किया गया था। उनके साथ के सत्रों में विस्तृत चर्चाएँ शामिल रहती थीं, जो या तो छोटे–छोटे समूहों में या फिर पूरी कक्षा के रूप में की जाती थीं। छात्राध्यापकों को करने के लिए लिखित कार्य भी दिए गए थे, जो उत्तरों की दृष्टि से खुली प्रश्नावलियों, सन्दर्भ से जुड़े प्रश्नों के उत्तरों तथा निबन्धों के रूप में होते थे।

इन चर्चाओं तथा लिखित कार्यों ने उनकी धारणाओं और दृष्टियों में झाँकने की एक खिड़की प्रदान की। उदाहरण के लिए, बच्चों की बुद्धि (जो परीक्षाओं में उनके हासिल किए गए अंकों के नजरिए से आँकी जाती है) के आधार पर उन पर 'बुद्धिमान' या 'बुद्धिहीन' होने का ठप्पा लगाने के बारे में उनकी धारणाओं की जड़ें काफी गहरी प्रतीत हुईं, जबकि जाति के बारे में उनके दृष्टिकोण विविध प्रकार के थे – उसके सामाजिक, ऐतिहासिक कारकों की भेदपूर्ण बारीक समझ से लेकर, इस तरह की मजबूत धारणाओं तक कि दलित बच्चे कम बुद्धिमान या स्कूल में अनियमित आदि होते हैं। इसके साथ ही, उनमें सामाजिक ऊँच–नीच के पदानुक्रम की व्यापक स्वीकार्यता भी प्रतीत हुई। हमने उसे "देखने की सम्भावनाओं की खोजबीन करने" का निर्णय लिया "जो परिचित होने के कारण नजर से ओझल

[3] *The Position Paper on Inclusive Education (Banerjee et al, 2013) provided the basis for the consultations.*

[4] *This activity was taken up as part of a collaborative project with DSERT and financial grant from UNICEF.*

रहता है, क्योंकि वह रोजमर्रा की जिन्दगी का इतना ज्यादा हिस्सा होता है कि वह पूरी तरह ध्यान से चूक जाता है", जैसा कि मैक्सिन ग्रीन का कथन है। खोजबीन के इन प्रयासों की रूपरेखा सामाजिक न्याय के लिए ग्रांट एवं अगस्टो (2008) के द्वारा सुझाई गई शिक्षकों की इन क्षमताओं के आधार पर बनाई गई थी:

1. पूछताछ पर आधारित समीक्षात्मक शिक्षण पद्धति के लिए प्रतिबद्धता
2. व्यावहारिक अभ्यास तथा सहयोग के समुदाय निर्मित करना
3. चिन्तनशील आचरण में संलग्न रहना
4. समीक्षात्मक सामाजिक चेतना विकसित करना

इन क्षमताओं को विकसित होने के लिए समय और सतत प्रयासों की आवश्यकता होती है। छात्राध्यापकों के साथ 30 घण्टे काम करने में, हम उन्हें पूछताछ पर आधारित समीक्षात्मक शिक्षण पद्धति का संक्षिप्त अनुभव प्रदान कर सके व चिन्तनशील आचरण में संलग्न रहने के लिए सुझाव दे सके। हमने अभ्यास के समुदाय निर्मित करने तथा समीक्षात्मक सामाजिक चेतना विकसित करने के महत्त्व को रेखांकित किया।[5] इस प्रयास को शिक्षकों की शिक्षा के कार्यक्रम में फैलाने की जरूरत है, जिसमें शिक्षकों को शिक्षा देने वाले उनको स्पष्ट तथा सुसंगत सन्देश दें। इसके अतिरिक्त, यदि सामाजिक न्याय के विचारों तथा सिद्धान्तों को आचरण में उतारा जाना है तो उसके लिए नए भर्ती हुए शिक्षकों को प्रारम्भिक व्यक्तिगत सहायता तथा मार्गदर्शन के सहयोग की आवश्यकता रहती है।[6] साथ ही, शिक्षकों को शिक्षा देने वालों को उस बेचैनी के प्रति संवेदनशील बनाया जाना पड़ता है जिसका सामना छात्राध्यापक तब करते हैं जब वे अपने बारे में खुद के ज्ञान की और दूसरों व संसार के साथ अपने सम्बन्ध की जाँच–पड़ताल करते हैं (कुमाशिरो, 2008)। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि शिक्षकों को शिक्षा देने वालों को सचेतन रूप से उन क्षमताओं को स्वयं विकसित करने की जरूरत होती है जिनको वे अपने छात्राध्यापकों में देखने की आकांक्षा रखते हैं।

हालाँकि शिक्षकों की क्षमता को निर्मित किया जाना और "मुक्तिदायी शिक्षण" की उनकी संकल्पना को निर्मित किया जाना आवश्यक है (हैमरनैस इत्यादि, 2005), परन्तु, जैसी कि पूनम बत्रा (2014) चेतावनी देती हैं, शिक्षकों को "सुधार के लक्ष्य" नहीं बना दिया जाना चाहिए। शिक्षक व्यवस्था का हिस्सा हैं और जहाँ एक ओर शिक्षकों को सशक्त बनाने में उनकी शिक्षा को महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाना जरूरी है, वहीं दूसरी ओर नीतियों तथा कानूनों को ऐसे संस्थानिक ढाँचों को सुनिश्चित करना होगा जो शिक्षकों की स्वायत्तता को कमजोर नहीं करते। साथ ही अमन मदान (2013) सुझाते हैं कि स्कूली पढ़ाई तथा स्कूल के ढाँचे का सम्बन्ध जटिल होता है और उसके "सूक्ष्म भेदों को स्पष्ट करने वाली समझ" होना आवश्यक है (पृ. 138)। हमारे देश में सामाजिक न्याय तथा शिक्षकों की शिक्षा पर किए जाने वाले कार्य के द्वारा ऐसी समझ को बढ़ावा देना बेहद जरूरी है।

"शिक्षा न केवल देखने की क्षमता की स्वतंत्रता से जुड़ी है, बल्कि बदलने की, समझने की और फिर से आविष्कार करने की, संसार को जानने और उसे रूपान्तरित करने की स्वतंत्रता से भी जुड़ी है" (एयर्स 2004, पृ. 21)। यदि स्कूली पढ़ाई को ऐसी शिक्षा को सुनिश्चित करना है, तो उसके लिए व्यक्तियों तथा संस्थानों, दोनों को अपने को उसके लिए "अनुकूल बनाने वाली विशेषज्ञता" विकसित करने की जरूरत है।

[5] *We found that while the reading material was adequate in developing some perspectives related to discriminations; clarifying a few concepts, such as intelligence; and appreciate the need to develop an inclusive learning environment, some of the vignettes and activities suggested seemed to reinforce their existing beliefs and prejudices. We are in the process of revisiting these sections. Also, in her review of our material, Jane Sahi has pointed out that social justice issues should not be super imposed from an external perspective. The engagement with student teachers has given us insights to communicate the issues more organically, emerging for the student teachers' concerns and beliefs.*

[6] *A study we took up as part of the UNICEF funded project, shows deeply entrenched beliefs on inclusion among teachers of both Government and Private schools. Even if we assume a robust teacher preparation programme that can develop teacher capacities for social justice, newly appointed teachers would need strong convictions and enormous confidence, to translate these into practice, in existing schools. This is where a more proactive role by teacher education institutes would be crucial in helping build communities of practice among alumni and much needed mentoring support.*

References

- Ayers, W. 2004. Teaching the Personal and the Political Essays on Hope and Justice. Teachers' College Press, New York
- Banerjee et al, 2012. Position Paper on Inclusive Education. Unpublished document.
- Batra, P. 2014. Problematising teacher education practice in India: Developing a research agenda. Education as change. 18(1); 55-5/8
- Grant, C & Agosto, V. 2008. Teacher Capacity and Social Justice in Teacher Education. In Cochran-Smith, Feiman-Nemser & Mc Intyre (Eds). Handbook of Research on Teacher Education. Routledge, New York.
- Hammerness, K et al. 2005. How teachers learn and develop. In Darling-Hammond, L & Bransford, J (Eds). Preparing Teachers for a changing world: What Teachers should Learn and Be Able to Do. Jossey.Bass, San Franscisco
- Kumar, K. 1989. The Social Character of Learning. Sage Publications, New Delhi
- Kumashiro, K. 2008. Partial movement towards teacher quality and their potential for advancing social justice. In Cochran-Smith, Feiman-Nemser & Mc Intyre (Eds). Handbook of Research on Teacher Education. Routledge, New York.
- Madan,A. 2013. Does education really change Society? In Nambissan & Rao (Eds). Sociology of Education in India. Changing Contours and Emerging Concerns. Oxford University Press, New Delhi
- Mythili, R, 2011. Status Study of D.Ed colleges in Karnataka. Karnataka Jnana Aayoga, Bangalore
- National Council for Educational Research and Training (NCERT), 2005. National Curriculum Framework. NCERT, New Delhi
- National Council for Teacher Education (NCTE), 2009. National Curriculum Framework for Teacher Education, NCTE, New Delhi
- Nawani, D. 2010. School Textbooks: understanding frameworks for analysis. Contemporary Education Dialogue. 7(2). pp. 157-192
- Rawls, J. 1971. A Theory of Justice. Harvard University Press, Cambridge
- Saxena,V (Ed). (2012) Contemporary Trends in Education – a handbook for educators, Dorling Kindersley (India) Pvt. Ltd., Noida
- Sleeter et al. (Eds) 2012. School Education, Pluralism and Marginality. Orient Blackswan, Hyderabad.
- UNESCO, 2008. The Diversity Kit. Retreived from www.unesco.org
- Yogendra Singh (Ed) Schooling, Stratification and Inclusion. NCERT, New Delhi

---

मैथिली रामचन्द विज्ञान शिक्षा में डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त हैं और वे वर्तमान में आर.वी. एजुकेशनल कन्सोर्टियम (आर.वी.ई. सी.), बेंगलूरु की डायरेक्टर हैं। आर.वी.ई.सी. के काम का प्रमुख केन्द्र प्रारम्भिक स्कूलों के शिक्षकों की शिक्षा के क्षेत्र में शोध करना है। मैथिली आजकल कर्नाटक राज्य में शिक्षा में द्वि–वर्षीय डिप्लोमा कार्यक्रम के लिए संसाधनों और सामग्री तैयार करने के कार्य में संलग्न हैं। वे इसके पहले डी.एड. पाठ्यक्रम के पुनरीक्षण कार्य में भाग ले चुकी हैं। उनकी अन्य रुचियाँ समावेशी शिक्षा तथा शिक्षा के दर्शन से सम्बन्धित हैं। उनसे rvecbangalore@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।
अनुवाद: भरत त्रिपाठी

शिक्षा का अधिकार अधिनियम और समावेशी तथा भेदभाव मुक्त स्कूल

नदीम अली हैदर खान

मतदाता वर्ग की दृष्टि से बच्चों के गैरजरूरी होने या कमजोर होने के कारण नीति निर्माताओं के लिए उनका कोई 'मतपत्र मूल्य' नहीं होता। शायद यह उन कारणों में से एक है जिनकी वजह से सभी को प्राथमिक शिक्षा सुलभ कराने के लिए कानून बनाने में इतना लम्बा समय लगा। बच्चे राजनीति में गैर–सक्रिय व्यक्ति होते हैं, इसलिए एक अप्रत्यक्ष और प्रतिनिधित्व वाले लोकतंत्र में अपने हित की पैरवी करने के लिए उनके पास कोई अवसर नहीं होता। इस तथ्य के बावजूद कि बच्चे इस मौलिक अधिकार के अकेले हितग्राही होते हैं, अकसर वे दूसरों की कृपा पाने वाले भर होते हैं। यह परिस्थिति समावेशी शिक्षा के विकास को एक बहुत मुश्किल कार्य बना देती है। उनकी जरूरतें अकसर पालकों, परिवारों, जाति, जनजाति, समुदाय और समाज के दृष्टिकोणों से देखी जाती हैं, जो सामान्यतया लोकाचार, मूल्यों, रीति–रिवाजों तथा संस्कृति के वाहक होते हैं, लेकिन सिर्फ वे ही इनके वाहक नहीं होते। यह जरूरी नहीं कि वे हमेशा संवैधानिक आचरण का पालन करते हों, बल्कि वे आमतौर पर अपने आचरण में पितृसत्तात्मक, सामन्ती, जातिवादी तथा साम्प्रदायिक/धार्मिक होते हैं, और उनका आधार दूसरों को बाहर रखना तथा ज्यादातर भेदभाव वाली प्रकृति का होता है। एन.सी.एफ.–एन.सी.ई.आर.टी.का अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा लड़कियों की शिक्षा के बारे में प्रस्तुत किया गया आधार पत्र तथा जस्टिस राजिंदर सच्चर आयोग की रिपोर्टें इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों, और धार्मिक अल्पसंख्यक समुदायों के बच्चों को तथा बालिकाओं को प्रारम्भिक स्कूलों में भेदभाव पूर्ण व्यवहारों का सामना करना पड़ता है, जिसका परिणाम उनकी नामांकन दर का कम होना और उनके स्कूल बीच में छोड़ देने की दर का बहुत अधिक होना होता है।

बच्चों को निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा का अधिकार अधिनियम (आर.टी.ई.एक्ट) 2009 को सभी बच्चों के लिए, चाहे उनकी जाति, वर्ग, लिंग, धार्मिक तथा अन्य सामाजिक–सांस्कृतिक और आर्थिक पहचान जो भी हों, प्रारम्भिक शिक्षा को सभी जगह उपलब्ध कराने के लिए पारित किया गया है। इसका उद्देश्य भेदभाव से मुक्त स्कूलों को प्रदान करना और उन्हें बढ़ावा देना तथा स्कूलों की निगरानी करने, उनमें भेदभाव को रोकने, उसका समाधान करने और उसे दूर करने के लिए समुदायों और स्थानीय निकायों को सशक्त बनाना है।

स्कूलों में समावेश के प्रश्न को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है : सामाजिक जनसांख्यिकी (मैं इसे आसपास के इलाके पर केन्द्रित दृष्टिकोण कहना पसन्द करता हूँ), पहचान, बच्चों का वर्गीकरण और श्रेणीकरण, प्रतिनिधित्व, भागीदारी, विषयवस्तु, पाठ्यक्रम तथा शिक्षण पद्धति और वित्त सम्बन्धी दृष्टिकोण। समावेश के सन्दर्भ में आर.टी.ई. एक्ट की सर्वांगीण समीक्षा करने के लिए ये सभी दृष्टिकोण बहुत महत्त्वपूर्ण हैं।

सबसे पहले, आसपास के इलाके की प्रकृति, दूसरे शब्दों में जाति, वर्ग, धार्मिक या किसी विशेष समूह की संस्कृति के आधार पर पृथक किए जाने वाले क्षेत्र की प्रकृति, उस इलाके के स्कूलों की प्रकृति भी निर्धारित करेगी। इसलिए, एक प्रासंगिक प्रश्न उठता है कि क्या आर.टी.ई.एक्ट सामाजिक तथा जनसांख्यिकीय पृथक्करण के सवाल का स्कूलों के द्वारा समाधान करने का इरादा रखता है, और यदि ऐसा है तो यह किस तरह होगा? इस प्रश्न का कारगर तरीके से समाधान किए बिना, क्या स्कूल एक समन्वयात्मक स्थान बनने के बजाय एक अलगाव वाला स्थान ही नहीं बने रहेंगे? दूसरे, निजी स्कूलों में 25% आरक्षण का प्रावधान किस हद तक वंचित समूहों के बच्चों और कमजोर वर्गों के बच्चों का प्रतिनिधित्व सुनिश्चित कर सकेगा; स्कूलों की श्रेणी और वर्ग से प्रभावित हुए बिना प्रारम्भिक शिक्षा को सभी के लिए सुलभ कराने में मदद कर सकेगा; निजी तथा आसपास के इलाके के स्कूलों को समावेशी बना सकेगा? तीसरे, उनकी भागीदारी इसमें नीचे से ऊपर की ओर बनने वाली समझ के आयाम को

स्कूल व्यवस्था में जोड़ेगी। हितग्राहियों और सभी सम्बन्धित भागीदारों का इस प्रक्रिया में शामिल होना स्कूल के स्वरूप को तय करेगा, उस पर समुदाय के स्वामित्व का प्रतिरूप निर्मित करेगा और उनकी आकांक्षाओं से जुड़ेगा। आर.टी.ई. का ढाँचा स्कूल प्रबन्धन समिति (एस.एम.सी.), स्थानीय निकायों, स्कूल विकास योजना, सामुदायिक निगरानी तथा सामाजिक लेखा परीक्षण के माध्यम से सभी की भागीदारी के लिए पर्याप्त अवसर प्रदान करता है। परन्तु, इस समय प्रश्न समुदाय की भागीदारी की प्रक्रिया के बारे में उठता है: ऐसी प्रक्रियाएँ किस तरीके से वर्तमान सामाजिक, सांस्कृतिक और संस्थानिक ढाँचे पर सवाल खड़े करेंगी और उनका समाधान खोजेंगी, तथा समावेशी नियोजन और निगरानी को सम्भव बनाएँगी?

अन्त में, चिन्ता करने का एक बहुत महत्त्वपूर्ण विषय वित्तीय साधनों और संसाधनों का आबंटन है। आर.टी.ई. एक्ट एक बहुत महत्त्वाकांक्षी अधिनियम है और इसके साथ वित्तीय प्रवाह को बनाए रखने और क्रमिक रूप से आबंटन को बढ़ाने की चुनौती जुड़ी हुई है। डी.आई.एस.ई. के 2009–10 के आँकड़ों तथा सर्व शिक्षा अभियान की वित्तीय रिपोर्टों के आधार पर अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन के अकाउंटेबिलिटी इनीशिएटिव (जवाबदेही पहल) ने राज्यों तथा केन्द्र की सरकारों द्वारा प्राथमिक शिक्षा पर किए जाने वाले प्रति व्यक्ति वार्षिक व्यय की दृष्टि से विभिन्न राज्यों

तालिका 1 – वंचित समूहों के बच्चों के अन्तर्गत आने वाले समूह

वंचित समूह	राज्य
अनुसूचित जातियाँ तथा अनुसूचित जनजातियाँ	सभी राज्य तथा केन्द्र शासित प्रदेश
पिछड़ी जाति	कर्नाटक, गुजरात, त्रिपुरा, हरियाणा, राजस्थान (वार्षिक आय 2.5 लाख तक) तथा उत्तराखण्ड और दिल्ली (सम्पन्न वर्ग – क्रीमी लेयर – को छोड़ कर)
शैक्षिक रूप से पिछड़ी जनजातियाँ	नागालैण्ड
अनाथ	आंध्रप्रदेश, कर्नाटक तथा मणिपुर, केरल, उत्तराखण्ड, तमिलनाडु, नागालैण्ड
विशेष जरूरतों वाले/अक्षमता ग्रस्त बच्चे	आंध्रप्रदेश, कर्नाटक, हिमाचलप्रदेश, मणिपुर, दिल्ली, राजस्थान, केरल तथा उत्तराखण्ड
प्रवासी	आंध्रप्रदेश, कर्नाटक
सड़कों पर रहने वाले बच्चे	आंध्रप्रदेश
एच.आई.वी. संक्रमित बच्चे	आंध्रप्रदेश, कर्नाटक तथा मणिपुर, केरल, उत्तराखण्ड, तमिलनाडु तथा नागालैण्ड
गरीबी रेखा के नीचे	मिजोरम
पारम्परिक व्यवसाय में संलग्न समुदाय	केरल
सफाई कामगारों के बच्चे	तमिलनाडु
विपरीत–लिंगी (ट्रांसजेंडर)	केरल तथा तमिलनाडु
वैकल्पिक नामांकन वाले 14 साल से ऊपर के बच्चे	केरल
80,000 रु से कम वार्षिक आय वाली विधवा/तलाकशुदा महिला के बच्चे	उत्तराखण्ड
4.5 लाख रु. से कम वार्षिक आय वाले अक्षमता ग्रस्त माता–पिता/एच.आई.वी. संक्रमित माता–पिता के बच्चे	उत्तराखण्ड

तालिका 2 – कमजोर वर्गों के बच्चों के अन्तर्गत आने वाले समूह

कमजोर समूह	राज्य
गरीबी रेखा से नीचे	अरुणाचल प्रदेश, हिमाचलप्रदेश, राजस्थान तथा मिजोरम, गुजरात, हरियाणा, केरल, त्रिपुरा
अनाथ/एच.आई.वी.संक्रमित/युद्ध विधवा के बच्चे/विशेष जरूरतों वाले/अक्षमता ग्रस्त बच्चे	हरियाणा
घुमन्तू जनजातियाँ तथा विमुक्त (डिनोटीफाइड) जनजातियाँ	महाराष्ट्र
धार्मिक अल्पसंख्यक	महाराष्ट्र
अन्य पिछड़ी जातियाँ तथा विशेष पिछड़ी जाति	महाराष्ट्र
पिछड़ी जाति, अल्पसंख्यक तथा 60,000 रु. तक की वार्षिक आय वाला अन्य वर्ग	आंध्रप्रदेश
वार्षिक आय	
< 40000 रु.	मणिपुर, नागालैण्ड
< 55,000 रु.	उत्तराखण्ड
< पिछड़ी जातियों के लिए अधिसूचित संपन्न वर्ग (क्रीमी लेयर)	कर्नाटक
< 1 लाख रु.	दिल्ली, महाराष्ट्र
< 2 लाख रु.	तमिलनाडु
< 2.5 लाख रु.	राजस्थान

के बीच की असमानता को स्पष्ट रूप से उजागर किया है। जहाँ एक ओर मेघालय तथा केरल ने इस पर क्रमशः 23,000 रु. तथा 19,000 रु. व्यय किए, वहीं दूसरी ओर पश्चिम बंगाल ने केवल 3500 रु. व्यय किए। केवल दस राज्यों का प्रति व्यक्ति व्यय, 9500 रु. के राष्ट्रीय औसत से अधिक है। इसलिए चुनौती एक तरफ इसमें समानता लाने की है और दूसरी ओर इसका स्तर बढ़ाने की है।

बच्चों की पहचान करना, वर्गीकरण, तथा श्रेणीकरणः वंचित समूहों के बच्चों तथा कमजोर वर्गों के बच्चों के समावेश का विचार

आर.टी.ई. अधिनियम वंचित समूहों के बच्चों तथा कमजोर वर्गों के बच्चों को 8वीं कक्षा तक सभी निजी स्कूलों (सरकारी सहायता न पाने वाले स्कूलों, अल्पसंख्यक वर्गों के स्कूलों, तथा विशेष रूप से उल्लेख किए गए स्कूलों जैसे कि केन्द्रीय विद्यालयों, जवाहर नवोदय विद्यालयों तथा सैनिक स्कूलों आदि को छोड़कर) में निःशुल्क शिक्षा प्राप्त करने का प्रावधान करता है। इसके अनुसार, इन स्कूलों को कक्षा 1 में कुल उपलब्ध स्थानों में से 25% को वंचित समूहों के बच्चों तथा कमजोर वर्गों के बच्चों के लिए आरक्षित रखना आवश्यक है [आर.टी.ई.अधिनियम का खण्ड 12(1) (सी)]।

आर.टी.ई.अधिनियम वंचित समूहों के भीतर अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के बच्चों को दो प्रमुख श्रेणियों के रूप में शामिल करता है, तथा सामाजिक और शैक्षिक रूप से पिछड़े समूहों या सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, भौगोलिक, भाषाई तथा लिंगभेद सम्बन्धी कारकों के आधार पर किन्ही अन्य समूहों को शामिल करने की जिम्मेदारी राज्य सरकारों पर छोड़ता है [खण्ड 2(डी)]। कमजोर वर्गों के बच्चों को राज्य सरकारों द्वारा निर्धारित आय के मानदण्डों के आधार पर वर्गीकृत

किया जाता है [खण्ड 2(ई)]। केवल 15 राज्यों ने वंचित समूहों के बच्चों तथा कमजोर वर्गों के बच्चों का वर्गीकरण किया है, जबकि सभी केन्द्र शासित प्रदेशों ने केन्द्रीय प्रतिरूप नियमों (सेंट्रल मॉडल रूल्स) को ही अपना लिया है। बिहार, झारखण्ड, मध्य प्रदेश, मेघालय, पश्चिम बंगाल, अरुणाचल प्रदेश, उड़ीसा, सिक्किम, छत्तीसगढ़, उत्तर प्रदेश, पंजाब, गोवा, असम और जम्मू तथा कश्मीर ने वंचित समूहों के बच्चों को परिभाषित नहीं किया है, और न ही कमजोर वर्ग के बच्चों के लिए आय के मानदण्डों को निर्धारित किया है। तालिकाएँ 1 तथा 2 क्रमशः वंचित समूहों के बच्चों तथा कमजोर वर्गों के बच्चों की एक व्यापक तस्वीर प्रस्तुत करती हैं और इन दोनों समूहों के वर्गीकरण में विसंगति को स्पष्ट करती हैं।

इस बात पर गौर करना दिलचस्प है कि केवल आंध्रप्रदेश तथा हरियाणा ने वंचित समूहों के बच्चों तथा कमजोर वर्गों के बच्चों के बीच में सीटों का बँटवारा करने के लिए नियम बनाया है, तथा आंध्रप्रदेश नियमावली के नियम 9 (4) के अनुसार, 19% सीटें वंचित समूहों के लिए निर्धारित हैं – जिसमें 10% अनुसूचित जाति, 4% अनुसूचित जनजाति, तथा 5% अनाथ, एच.आई.वी. संक्रमित, अक्षमता ग्रस्त बच्चों के लिए हैं – शेष 6% स्थान कमजोर वर्गों के बच्चों के लिए आरक्षित हैं – जिनमें अल्पसंख्यक समुदायों, पिछड़ी जातियों तथा 60,000 रुं तक की वार्षिक आय वाले अन्य समूहों के बच्चे शामिल हैं। इसी प्रकार हरियाणा की नियमावली के नियम 7 (4) का प्रतिबन्ध 5% स्थान अनुसूचित जातियों के, 4% वर्ग ए की अन्य पिछड़ी जातियों के तथा 2.5% वर्ग बी की अन्य पिछड़ी जातियों के बच्चों को प्रदान करता है। आंध्रप्रदेश और हरियाणा के नियम सबसे कमजोर बच्चों की शिक्षा तथा प्रतिनिधित्व तक पहुँच को सुनिश्चित करने के लिए, स्तरों में बँटी हुई कोटा व्यवस्था के द्वारा, एक उपाय प्रदान करने का प्रयास करते हैं।

आर.टी.ई.अधिनियम का इरादा भेदभाव–मुक्त स्कूलों को सुनिश्चित करना है। यह सुनिश्चित करना सरकार [खण्ड 8 (सी)] तथा स्थानीय अधिकारी [खण्ड 9 (सी)] का कर्तव्य है कि स्कूलों में किसी भी वंचित समूह के बच्चों या कमजोर वर्ग के बच्चों के खिलाफ भेदभाव न किया जाए और न ही उनको प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने से और उसे पूरी करने से रोका जाए। इसके अलावा, मॉडल आर.टी.ई. का नियम सरकार तथा स्थानीय अधिकारियों पर यह सुनिश्चित करने का दायित्व भी डालता है कि प्रत्येक स्कूल जाति/धर्म/लिंगभेद के आधार पर दुर्व्यवहार से मुक्त हो [नियम 5(3)] मॉडल नियम,। मणिपुर की नियमावली का नियम 5(3) तथा आंध्रप्रदेश की नियमावली का नियम 6(3) स्पष्ट रूप से स्कूलों में जाति, धर्म या लिंग के आधार पर प्रवेश देने से इनकार के खिलाफ सुरक्षा प्रदान करते हैं। मॉडल नियम [नियम 5(4)] तथा राज्य नियम [उदाहरण के लिए, आंध्रप्रदेश नियमावली के नियम 6(4)] इसके दायरे को और स्पष्ट करते हुए उसमें सरकार तथा स्थानीय अधिकारी को विशेष रूप से यह गारण्टी प्रदान करने का आदेश देते हैं कि सरकारी स्कूलों तथा सरकारी सहायता प्राप्त निजी स्कूलों सहित सभी स्कूलों की कक्षाओं में, मध्यान्ह भोजन के दौरान, खेल के मैदान में, साझा पीने के पानी तथा शौचालय सुविधाओं का इस्तेमाल करने में, तथा शौचालयों और कक्षाओं को साफ करने में ऐसे किसी भी बच्चे को दूसरों से अलग रखने या उसके प्रति भेदभाव करने के खिलाफ सुरक्षा प्रदान की जाएगी। इसके आगे, मॉडल नियम का नियम 7 तथा आंध्रप्रदेश की नियमावली का नियम 8 प्रत्येक सरकारी–सहायता न पाने वाले स्कूल तथा विशेष रूप से उल्लिखित स्कूलों को यह आदेश देते हैं कि ऐसे बच्चों को न तो कक्षा में दूसरे बच्चों से अलग रखा जाए, और न ही उनकी कक्षाएँ अलग स्थानों तथा अलग समय पर लगाई जाएँ। ऐसे बच्चों से पाठ्यपुस्तकों, गणवेशों (यूनिफार्म्स), पुस्तकालय, आई.सी.टी., पाठ्यक्रम से इतर गतिविधियों तथा खेलकूद सहित सभी अधिकारों और सुविधाओं के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का भेदभाव हरगिज नहीं किया जाएगा।

निष्कर्ष तथा आगे की राह

अन्त में प्रश्न यह है कि – क्या नए आर.टी.ई. की व्यवस्था नागरिकता तथा संवैधानिक मूल्यों को विकसित करने के लिए सार्वजनिक तथा निजी स्कूलों, दोनों को समायोजित करने का नया मार्ग प्रशस्त करेगी? या कि यह दीवार में एक और ईंट भर साबित होगी? इसके बाद अगला सवाल यह उठता है कि यह पुरानी चुनौतियों तथा नई आवश्यकताओं का समाधान कैसे करेगी और दोनों के बीच संतुलन कैसे बनाएगी?

वर्तमान प्रारम्भिक शिक्षा व्यवस्था में इस स्तर पर भेदभाव को पहचानने, उसका सामना करने, निगरानी रखने और उसे दूर करने के लिए कोई निश्चित तथा समरूप उपाय नहीं है। इसके न होने के कारण समावेशी स्कूलों के लक्ष्य को पूरा करने के लिए ऐसी कार्यपद्धति विकसित करने की

तथा विशेष गुणवत्ता सूचकों पर आधारित प्रक्रिया आरम्भ करने की जरूरत महसूस की जाती है। स्कूलों की संस्था को लोकतांत्रिक, भागीदारी पूर्ण, समावेशी तथा भेदभाव से मुक्त बनाने के लिए, पी.आर.आई. सहित सभी संस्थानों को राह दिखानी होगी। शिक्षा तथा स्कूल न्याय हासिल करने के साधन तथा साध्य दोनों हैं, लेकिन शिक्षा अकेली अपने–आप में मुक्ति का मार्ग नहीं हो सकती। उसे इन संस्थानों द्वारा सतत जारी भेदभाव पूर्ण लोकाचार से मुक्त कराना जरूरी है। सक्रिय नागरिक समुदाय ही शिक्षा की संस्था को एक सक्रिय, समावेशी तथा भेदभाव–मुक्त संस्था में रूपान्तरित करेगा और सक्रिय, समावेशी तथा भेदभाव–मुक्त स्कूलों की संस्था क्रमिक रूप से एक सक्रिय नागरिक समुदाय विकसित करेगी। इन दोनों के पूरी तरह पृथक स्थिति में रहने से यह घटित नहीं होगा। वंचित समूह के बच्चों तथा कमजोर वर्गों के बच्चों की पहचान करने के व्यापक सिद्धान्तों तथा मानदण्डों को स्पष्ट करने और अपनाने के मुद्दे पर विचार–विमर्श करना समावेशी स्कूलों की दिशा में बढ़ने के लिए एक अच्छा प्रस्थान बिन्दु हो सकता है।

नदीम अली हैदर खान वर्तमान में गुजरात नेशनल लॉ यूनिवर्सिटी से इण्टरनेशनल एण्ड कम्पैरेटिव लॉ में स्नातकोत्तर उपाधि के लिए अध्ययन कर रहे हैं। उन्हें न्याय तक पहुँच के मुद्दों पर कार्य करते हुए सात वर्ष हो चुके हैं। उनसे nadimnikhat@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवादः** सत्येन्द्र त्रिपाठी

भारतीय जाति व्यवस्था और वंचित तथा कमजोर वर्गों के लिए शिक्षा में चुनौतियाँ

पी. एस. कृष्णन

I. जनसांख्यिकीय वितरण का लाभ और उसकी अनिवार्य पूर्व शर्तें – जनसंख्या के विशिष्ट वितरण से होने वाले लाभ की अवधारणा जानी–मानी है। लेकिन, इससे उपलब्ध होने वाले अवसर का लाभ उठाने के लिए और जनसांख्यिकीय लाभ को जनसांख्यिकीय दुःस्वप्न बनने से रोकने के लिए, युवा आयु–वर्ग की आबादी को अच्छी शिक्षा, स्वास्थ्य तथा कौशलों से संपन्न बनाना जरूरी है। इसके लिए न केवल शैक्षिक, स्वास्थ्य–सम्बन्धी और कौशल–विकास की सुविधाएँ आवश्यक हैं, बल्कि सभी सामाजिक वर्गों को इन सुविधाओं का लाभ उठा सकने के काबिल बनाना भी जरूरी है। इसके लिए उन बाधाओं को दूर किया जाना पड़ेगा जो इन सुविधाओं को वंचित वर्गों तक पहुँचने से रोकती हैं।

II. "अस्पृश्यता वाली" भारतीय जाति व्यवस्था –जनसांख्यिकीय वितरण का लाभ उठाने में बड़ी बाधा – इस प्रक्रिया की कठिन बाधाओं में से एक भारत का पारम्परिक सामाजिक–आर्थिक ढाँचा और व्यवस्था, अर्थात भारतीय जाति व्यवस्था (इण्डियन कास्ट सिस्टम – आई.सी.एस.) या "अस्पृश्यता वाली" जाति व्यवस्था है। इसने आबादी के एक बड़े हिस्से के बच्चों और युवाओं को शिक्षा सहित हर क्षेत्र की सुविधाओं और अवसरों तक पहुँच पाने से रोका हुआ है। इस समस्या को स्पष्ट रूप से समझने और इसके समाधान के कारगर उपाय खोजने व निर्मित करने के लिए हमें भारतीय जाति व्यवस्था की प्रकृति को ऐतिहासिक रूप से वंचित और कमजोर वर्गों के दृष्टिकोण से समझना जरूरी है।

III. भारतीय जाति व्यवस्था तथा इसका कार्य एवं प्रभाव – भारतीय जाति व्यवस्था केवल कुछ मनमाने रीति–रिवाजों और प्रचलनों का मामला नहीं है। यह श्रेष्ठ–निकृष्ट का वर्गीकरण, अवमूल्यन, वंचितीकरण तथा शोषण की ऐसी व्यवस्था है जिसमें व्यवसायों का भी ऊँचा–नीचा क्रम है। इसकी संरचना उन लोगों के स्व–हित की खातिर की गई है जो विशेष सुविधा तथा सम्मान के पदों पर होते हैं, ताकि वे लाभों पर एकाधिकार कर सकें और अपने से निचले स्तर के लोगों के श्रम और सेवाओं पर अधिकार जमा सकें। यह सर्वत्र व्याप्त व्यवस्था भारतीय सामाजिक, शैक्षिक तथा आर्थिक स्थिति की आधारभूत केन्द्रीय और निर्णायक जीवन–प्रक्रिया है। सदियों पहले से लेकर आज तक खेतिहर मजदूरी और अन्य प्रकार का श्रम प्रदान करने वाले लोगों को उनकी ही जातियों के कटघरों में कैद रखना, और उनके उसमें से निकल पाने की या ऊपर उठ पाने की कोई गुँजाइश न छोड़ना और आर्थिक, शैक्षिक तथा सामाजिक प्रगति से उनको या तो वंचित रखना, या ऐसी प्रगति के अवसरों को न्यूनतम बना देना, तथा लाभकारी पदों और अवसरों पर सुविधासंपन्न जातियों/वर्गों का एकाधिकार बनाए रखना भारतीय जाति व्यवस्था का प्रमुख कार्य और प्रभाव रहा है।

IV. भारतीय जाति व्यवस्था की शिकार–अनुसूचित जातियाँ (एससी), अनुसूचित जनजातियां (एसटी) तथा सामाजिक एवं शैक्षिक पिछड़ी जातियाँ (बीसी)– इस व्यवस्था की सबसे बुरी शिकार अनुसूचित जातियाँ हुई हैं जिनका उद्भव भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था में खेतिहर मजदूर जातियों, तथा अन्य प्रकार का श्रम और "हाथों से गन्दगी साफ करने" जैसी "नीच मानी जाने वाली ऐसी सेवाएँ" प्रदान करने वाली जातियों के रूप में हुआ है, जिन्हें करना कोई भी मजबूर किए गए बिना स्वतः नहीं चुनेगा। "अस्पृश्यता" भारतीय जाति व्यवस्था का वह विशेष हथियार है जो अनुसूचित जातियों को उनके आसपास के समाज से अलग बनाए रखने, उनके मनोबल को हतोत्साहित करने और उन्हें पूरी तरह से शैक्षिक तथा अन्य अवसरों से वंचित रखने के लिए बना है।

वंचित किए जाने के पैमाने में अनुसूचित जातियों जैसा ही हाल अनुसूचित जनजातियों का है जो दूरदराज के इलाकों तक सीमित रखी जाती हैं। इसी प्रकार वंचित रखी गई, हालाँकि जो "अस्पृश्यता" से पीड़ित नहीं हैं,

सामाजिक तथा शैक्षिक रूप से पिछड़ी जातियाँ हैं, जिन्हें अन्य पिछड़ी जातियों (ओबीसी) के नाम से भी जाना जाता है सामाजिक पिछड़ेपन से बाहर निकलने में कामयाब हो गई हैं। इनमें शामिल हैंः कुशल कारीगरों और दस्तकारी का काम करने वाले (लुहार, बढ़ई, कुम्हार, पत्थर काटने वाले, आदि), सेवाएँ प्रदान करने वाले (बाल काटने वाले आदि), गैर–खेतिहर प्राथमिक उत्पादक (जैसे कि मछुआरे) और खेतिहर प्राथमिक उत्पाद प्रदान करने वाले (किसान) – हालाँकि किसानों की कुछ जातियाँ जिन्हें सिंचाई और बाजार तक पहुँच, आधुनिक प्रौद्योगिकी आदि के लाभ मिले।

लोगों की उपरोक्त तीनों श्रेणियाँ (एससी, एसटी तथा बीसी) मिलकर भारत की आबादी का बहुत बड़ा भाग (लगभग 75%) बनाती हैं और भारत की लगभग पूरी कामगार शक्ति भी प्रदान करती हैं। अधिकांश मुस्लिम या ईसाई अल्पसंख्यक लोग कुछ खास पिछड़ी जातियों के समुदायों के होते हैं जिनकी उत्पत्ति हिन्दू अनुसूचित जातियों और पिछड़ी जातियों से धर्म परिवर्तन करके हुई।

V. सदियों पुरानी भारतीय जाति व्यवस्था का औपनिवेशिक काल से आज तक जारी रहने का दौर–जिसके अपरिहार्य परिणाम की तरह आरक्षण तथा सामाजिक न्याय के अन्य उपाय निकलकर आए – दो शताब्दियों के ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन ने और आजादी के बाद के बीते दशकों में स्वदेशी शासन ने परिवर्तनों की शुरुआत की है लेकिन उन्होंने भारत के सामाजिक–आर्थिक ढाँचे को मूल रूप से नहीं बदला है।

जाति–पारम्परिक व्यवसाय–सामाजिक दर्जा, इस गठजोड़ की निरन्तरता आज तक जारी है, जैसा कि उच्चतम न्यायालय ने मण्डल मुकदमे में 16.11.1992 को दिए गए अपने फैसले की निम्नलिखित टिप्पणी में ध्यान दिलाया हैः... "एक जाति और कुछ नहीं बल्कि... व्यवसायिक समूह है.... यदि व्यक्ति उस व्यवसाय का अनुसरण करना भी छोड़ देता है, तब भी वह उस व्यवसाय का सदस्य बना रहता है और उसी में जारी रहता है....उस समूह का सामाजिक दर्जा और स्थान उसके द्वारा पालन किए जाने वाले व्यवसाय की प्रकृति पर निर्भर करता है। जितना नीचा व्यवसाय होता है उतना ही नीचा सामाजिक स्थान होता है। नीचे दर्जे के व्यवसाय का परिणाम न केवल नीची सामाजिक स्थिति होती है बल्कि गरीबी भी होती है; वह गरीबी पैदा करता है.... हमारे सारे खण्डनों और वितृष्णा तथा इस सामाजिक प्रचलन को समाप्त करने के सभी प्रयासों के बाबजूद, यह नग्न वास्तविकता है।"

भारतीय जाति व्यवस्था के काम करते रहने का अर्थ है "निचली" जातियों (एससी, एसटी तथा बीसी) को शैक्षिक तथा उन्नति करने के अवसरों से वंचित रखना। प्रागैतिहासिक काल में एकलव्य की गाथा इसी का प्रतीकात्मक चित्रण करती है और आधुनिक काल में, इसी का प्रदर्शन 1853 में "ऊँची" जातियों के पालकों ने एक सरकारी स्कूल का बहिष्कार करके किया था जब "अछूत" (महार) जाति के एक लड़के को बाम्बे प्रेसिडेंसी के धारवाड़ (जो अब कर्नाटक में है) के उस स्कूल में प्रवेश दिया गया था।

अँग्रेजों ने कानून की नजर में सबके बराबर होने की अवधारणा का सूत्रपात किया, पर उन्होंने दलितों के लिए शिक्षा के दरवाजे खोलने के लिए खास कुछ नहीं किया। मैंने एक अन्य स्थान पर वर्णन किया है कि किस प्रकार प्रारम्भिक अँग्रेज शिक्षाशास्त्री "तिरस्कृत जातियों" (जिनके बच्चों को उन्होंने सबसे अच्छे विद्यार्थी पाया जो औपनिवेशिक प्रशासन में उच्च पदों तक पहुँचने के काबिल थे) की शिक्षा को सक्रिय रूप से प्रोत्साहित करने से परहेज करते रहे, क्योंकि उन्हें "ऊँची" जातियों की तीखी प्रतिक्रिया का डर था। मैंने इण्डियन एजुकेशन (हंटर) कमीशन (1882) के द्वारा भारत के विभिन्न प्रान्तों में स्कूल के रास्ते में आते–जाते "अछूतों" के बच्चों के खिलाफ हिंसा की वारदातों, शारीरिक रूप से रोके जाने और उन्हें घात लगाकर तंग करने के उदाहरण दिए जाने का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार, आधुनिक शिक्षा और उसके फलस्वरूप मिलने वाली नौकरियों पर, पिछली सदियों की ही तरह, इस दौर में भी केवल थोड़ी सी जातियों, जिनका विभिन्न क्षेत्रों की आबादी में हिस्सा 3 से 20% तक ही था, का लगभग एकाधिकार बना रहा, और इन अवसरों पर कब्जा करने के हथियार तरह उन्होंने उच्च जातियों की एकता का उपयोग किया, और नीची जातियों के साथ "अस्पृश्यता" को जोड़कर उसका उपयोग इन अन्य लोगों को बाहर रखने के हथियार की तरह किया।

यही वे परिस्थितियाँ थीं जिनमें उन सभी जातियों या समुदायों के लोगों ने – जिनका शासन करने या प्रशासन में कोई हिस्सा नहीं था, या नाममात्र को ही हिस्सा था, और जिनकी शिक्षा तक, विशेष रूप से अँग्रेजी स्कूलों की

शिक्षा तक कोई पहुँच नहीं थी, या बहुत सीमित पहुँच थी – आरक्षण की माँग करना आरम्भ किया, और आरक्षण आजादी मिलने के पहले से ही नीति का अंग बन गया। चूँकि वंचित रखने, या अवसरों से बाहर रखने, का हथियार जाति थी, इसलिए वह स्वाभाविक रूप से स्वतः ही आरक्षित अवसरों तक पहुँच के लिए लोगों को संगठित करने का हथियार भी बन गई।

VI. भारत का संविधान और उसकी समतावादी संरचना – भारत का संविधान 1950 में समतावादी चेतना और स्थाई राष्ट्रीय एकीकरण के लिए मजबूत आधार रखने के उद्देश्य से जन्मा था। उसमें अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा पिछड़ी जातियों के लिए दूरगामी प्रावधान शामिल किए गए थे। आरक्षण संविधान द्वारा सोचे गए उन परिपूर्ण उपायों का केवल एक हिस्सा था जिनका लक्ष्य अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा पिछड़ी जातियों के प्रति सदियों से किए जा रहे अन्याय के सतत प्रभावों को निरस्त करना, और उनको शैक्षिक तथा आर्थिक अवसरों को पूरी तरह उपलब्ध करवाना था, ताकि उनको शिक्षा सहित सभी मानदण्डों में तथा सभी स्तरों पर सामाजिक रूप से अग्रणी जातियों, या गैर–एससी, गैर–एसटी, गैर–बीसी जातियों के समकक्ष स्तर को हासिल करने योग्य बनाया जा सके।

VII. अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा पिछड़ी जातियों की प्रगति और बराबरी के लिए सामाजिक न्याय योजनाएँ–उनका प्रभाव तथा सीमाएँ – अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों की, तथा काफी बाद में पिछड़ी जातियों की भी, प्रगति और सामाजिक बराबरी सुनिश्चित करने के लिए अलग–अलग समय पर राष्ट्रीय स्तर की महत्त्वपूर्ण योजनाएँ प्रारम्भ की गईं। जिनकी शुरुआत, उदाहरण के लिए, 1943 में वाइसराय की कार्यकारी परिषद के सदस्य के रूप में डा. अम्बेडकर द्वारा अनुसूचित जातियों के लिए मैट्रिक–उपरान्त छात्रवृत्ति योजना को आरम्भ करके की गई। हालाँकि इन योजनाओं ने कुछ प्रगति करवाने में मदद की है, परन्तु उनका पूरा प्रभाव उपलब्ध नहीं हो सका है। वे क्रान्तिकारी आर्थिक उपायों को कार्यान्वित करने में असफल रही हैं। जैसे कि सभी ग्रामीण अनुसूचित जातियों के परिवारों तथा अन्य भूमिहीन खेतिहर परिवारों को व्यवहारिक रूप से पर्याप्त खेती की भूमि दिलवाना; अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों की सभी खेती की जमीनों के लिए सिंचाई का प्रावधान (सत्ताधारी दलों और सरकारों द्वारा बेहिचक इन दोनों को पूरा करने का पवित्र वादा किया जाता है जिसे बाद में बिना किसी विचार के भुला दिया जाता है); और अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा पिछड़ी जातियों के बच्चों के लिए परिमाणात्मक रूप से और गुणात्मक रूप से स्कूली शिक्षा तथा पूर्व–स्कूल शिक्षा को सर्वत्र उपलब्ध करवाना तथा उसे सशक्त बनाया जाना आदि।

VIII. सामाजिक रूप से अग्रणी जातियों, या गैर–एससी, गैर–एसटी, गैर–बीसी जातियों की तुलना में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा पिछड़ी जातियों की अभी भी जारी भारी शैक्षिक असमानता का वर्तमान परिदृश्य – इसके परिणामस्वरूप, हम शिक्षा के हर स्तर पर अभी भी जारी भारी शैक्षिक असमानता की खाई को मौजूद पाते हैं, जिसके एक छोर पर वंचित अनुसूचित जातियाँ और अनुसूचित जनजातियाँ हैं तो दूसरे ऊँचे छोर पर

भारत (66वाँ चक्र 2009–10)				
	अनुसूचित जातियाँ	अनुसूचित जनजातियाँ	पिछड़ी जातियाँ	सामाजिक रूप से अग्रणी जातियाँ, या गैर–एससी, गैर–एसटी, गैर–बीसी जातियाँ
साक्षर नहीं	41.5	44.6	33.2	20.1
माध्यमिक स्तर	9.8	9.2	13.2	16.6
स्नातक तथा उससे ऊपर	3.4	2.6	5.4	13.6
दिल्ली की महिलाएँ (61वाँ चक्र 2004–05) (यह महानगरीय भारतीय स्थिति को प्रतिबिम्बित करता है क्योंकि दिल्ली आत्यंतिक रूप से महानगरीय है)				
स्नातक तथा उससे ऊपर और	1.3	3.4	दिल्ली के लिए अनुसूचित जनजातियों की कोई सूची नहीं	26.2

सामाजिक रूप से अग्रणी जातियाँ, या गैर–एससी, गैर–एसटी, गैर–बीसी जातियाँ हैं, और जिनके बीच में पिछड़ी जातियाँ हैं, जो आमतौर पर सामाजिक रूप से अग्रणी या गैर–एससी, गैर–एसटी, गैर–बीसी जातियों के बजाय अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के अधिक निकट हैं। यह 15 वर्ष और उससे अधिक आयु की आबादी के लिए एन.एस.एस.ओ. के द्वारा इकट्ठे किए गए निम्न आँकड़ों से स्पष्ट होता है:

IX. भारत की सर्वोत्कृष्ट आर्थिक वृद्धि और चौतरफा मानव संसाधन विकास के लिए जनसांख्यिकीय वितरण लाभ को समता के लाभ से पुष्ट करने की परम आवश्यकता – यदि इस गैर–बराबरी को मिटाने के लिए कदम नहीं उठाए जाते, तो हम न तो समानता के संवैधानिक दायित्व को पूरा कर सकते हैं, और न ही हम जनसांख्यकीय वितरण का लाभ उठा सकते हैं, जिसके बिना भारत की सर्वोत्कृष्ट आर्थिक वृद्धि नहीं हो सकती। दूसरे शब्दों में, हमें "समानता के लाभ" की धारणा को शामिल करना होगा, जो राष्ट्रीय हित के लिए शिक्षा के सभी स्तरों में तथा अन्य सभी आर्थिक और सामाजिक मापदण्डों में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा पिछड़ी जातियों को सामाजिक रूप से अग्रणी जातियों के समकक्ष बनने के काबिल बनाकर हासिल किया जा सकता है।

X. अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा पिछड़ी जातियों के लिए समानता सुनिश्चित करने के लिए आवश्यक कदम – अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए शैक्षिक समानता तथा शिक्षा के सभी क्षेत्रों में सभी स्तरों पर सामाजिक रूप से अग्रणी जातियों, या गैर–एससी, गैर–एसटी, गैर–बीसी जातियों से उनकी बराबरी के अधिकार को पूरा करने के लिए आवश्यक विभिन्न उपायों (तथा उनकी आर्थिक प्रगति, स्वास्थ्य सम्बन्धी मापदण्डों की बराबरी, जीने तथा काम करने की स्थितियों के मानवोचित बनाया जाने के लिए आवश्यक उपायों) को विभिन्न दस्तावेजों3,4,5,6,7 में अच्छी तरह से वर्णित किया गया है। इनमें से कईयों को मैंने तैयार किया है या तैयार करने की प्रक्रिया में नजदीक से शामिल रहा हूँ। इनमें से कई इन बीते हुए वर्षों में प्रस्तुत किए गए अन्य प्रस्तावों तथा संस्तुतियों के साथ सरकारी फाइलों में पड़े हैं। इन पर ध्यान नहीं दिया गया है या फिर नाममात्र को ही ध्यान दिया गया है तथा कोई कार्यवाही नहीं की गई है।

उनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण कदमों की नीचे संक्षिप्त सूची दी जा रही है:

(1) अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति की प्रत्येक बस्ती में, और पृथक/स्पष्ट रूप से अलग पिछड़ी जाति की बस्ती (उदाहरण के लिए मछुआरों का टोला) में एक आँगनवाड़ी केन्द्र होना। हर केन्द्र में योग्यता प्राप्त तथा माण्टेसरी और ऐसी अन्य पद्धतियों में प्रशिक्षित शिक्षिका होना।

(2) अनुसूचित जातियों के बच्चों के लिए कक्षा 1 से कक्षा 10 तक के लिए वैसी ही खुली पूर्व–मैट्रिक छात्रवृत्ति योजना जैसी अनुसूचित जनजातियों के बच्चों के लिए 1.7.2012 से उपलब्ध है।

(3) हर ब्लाक में, कक्षा 6 से कक्षा 12 तक, अनुसूचित जातियों की लड़कियों और लड़कों के लिए अलग–अलग, तथा इसी प्रकार अनुसूचित जनजातियों की लड़कियों और लड़कों के भी लिए भी अलग–अलग उच्च गुणवत्ता वाले आवासीय स्कूल होने चाहिए। इन आवासीय स्कूलों में 75% स्थान इन जातियों (अनुसूचित जाति या अनुसूचित जनजाति) के बच्चों के लिए आरक्षित होना चाहिए। शेष 25% स्थान अन्य समूहों के बच्चों के लिए होना चाहिए, जिनमें सामाजिक रूप से अग्रणी जातियों, या गैर–एससी, गैर–एसटी, गैर–बीसी जातियों के गरीब परिवारों के बच्चे शामिल हों। यह 75%–25% का फार्मूला शैक्षिक रूप से वंचित लोगों पर ध्यान केन्द्रित करने और साथ ही साथ सामाजिक एकीकरण के प्रयोजन को पूरा करने के सर्वोत्तम रूप से कारगर होगा। ऐसे आवासीय स्कूलों की संख्या इतनी होना चाहिए ताकि वे शिक्षा के इस चरण में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के सभी बच्चों को समाहित कर सकें। नवोदय विद्यालय या केन्द्रीय विद्यालय जैसे सभी के लिए बने स्कूलों में अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के बच्चों के लिए केवल उनकी आबादी के अनुपात में स्थान आरक्षित कर देने से सदियों से विरासत में संचित हुआ असमानता का बोझ दूर नहीं होगा।

इसी प्रकार के उपाय मुस्लिमों तथा ईसाइयों की पिछड़ी जातियों सहित सभी पिछड़ी जातियों के लिए भी किए जाना आवश्यक हैं।

इसका एक सफल प्रतिरूप पिछले लगभग 35 वर्षों से आंध्रप्रदेश में मौजूद है। उस राज्य में अनुसूचित जातियों के बच्चों के लिए 288 आवासीय स्कूल हैं, इतनी ही संख्या में आवासीय स्कूल अनुसूचित जनजातियों के बच्चों के लिए हैं, तथा लगभग 50 स्कूल पिछड़ी जाति के बच्चों के लिए हैं। उनके 12वीं कक्षा के परिणाम राज्य के औसत से काफी ऊँचे हैं। अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा पिछड़ी जातियों की लड़कियों के लिए इस प्रकार के आवासीय स्कूलों की राष्ट्रीय स्तर की एक योजना के लिए, मेरी सलाह पर, 250 करोड़ रु. का प्रावधान किया गया था, जिसे बाद में बढ़ाकर 400 करोड़ रु, कर दिया गया था, पर इस प्रयोजन के लिए इस राशि का उपयोग नहीं किया गया।

(4) संविधान (93वाँ संशोधन) अधिनियम, 2005 का पालन करते हुए निजी क्षेत्र के व्यावसायिक, प्रौद्योगिक तथा उच्च शिक्षा के अन्य तेजी से बढ़ते हुए संस्थानों में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षण किया जाना, और उसके साथ ही अन्य सम्बन्धित सहायक उपाय किए जाना तथा सुविधाएँ दी जाना।

(5) अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के बच्चों की मैट्रिक–उपरान्त शिक्षा तथा विदेश में शिक्षा के लिए छात्रवृत्ति योजनाओं (दोनों ही अम्बेडकर के समय 1943 की हैं) के मार्ग की बाधाओं (जैसे कि पारिवारिक आय की अधिकतम सीमा को, जो योजना के मकसद को ही निरस्त करते हुए बहुत निचले स्तर पर तय की गई है) को दूर करना; तथा बाद वाली योजना का विस्तार करना।

(6) इसी प्रकार अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के विद्यार्थियों के लिए राष्ट्रीय अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति वित्त एवं विकास निगम से व्यावसायिक तथा प्रौद्योगिक पाठ्यक्रमों के लिए मिलने वाले शैक्षिक ऋणों की पात्रता के लिए निर्धारित की गई हास्यास्पद रूप से निचली अधिकतम पारिवारिक आय सीमा (जो ग्रामीण क्षेत्रों के लिए 40,000 रु. तथा शहरी क्षेत्रों के लिए 55,000 रु. है) को दूर करना।

जो लोग उपरोक्त योजनाओं की पूरी विस्तृत जानकारी पाने के इच्छुक हों, मैं उन्हें वह जानकारी तथा अनेक अन्य ऐसी योजनाओं की जानकारी उपलब्ध करवा सकता हूँ जिनकी बाधाओं को दूर किया जाना जरूरी है, ताकि शिक्षा के सभी स्तरों पर मौजूद वह खाई पाटी जा सके जिसके एक तरफ अनुसूचित जातियाँ, अनुसूचित जनजातियाँ और पिछड़ी जातियाँ हैं तथा दूसरी ओर सामाजिक रूप से अग्रणी जातियाँ और गैर–एससी, गैर–एसटी, तथा गैर–बीसी जातियाँ हैं।

XI. स्कूलों तथा अन्य शैक्षिक संस्थाओं से "अस्पृश्यता" तथा सामाजिक न्याय के उपायों के खिलाफ पूर्वाग्रहों को पूर्णरूप से दूर करना – अनुसूचित जातियों के खिलाफ अभी भी जारी "अस्पृश्यता" का कैंसर तथा सामाजिक न्याय के उपायों के खिलाफ पूर्वाग्रह, शिक्षा में वास्तविक बराबरी को यथार्थ में उपलब्ध करने के मानवीय, राष्ट्रीय तथा संवैधानिक मिशन की राह में बहुत बड़ी बाधा है। स्कूलों में "अस्पृश्यता" के व्यापक चलन को ह्यूमन राइट्स वाच (एच.आर.डब्ल्यू.) की एक रिपोर्ट – जिसका शीर्षक है "दे से वी आर डर्टीः डिनाइंग एन एजुकेशन टु इण्डिया'ज मारजिनलाइज्ड (वे कहते हैं कि हम गंदे हैंः भारत के हाशिए पर जी रहे लोगों को शिक्षा से वंचित रखना)" – में बखूबी दर्शाया गया है। 22.4.2004 को जारी की गई यह रिपोर्ट इस संगठन के द्वारा केन्द्र सरकार की नाक के नीचे स्थित दिल्ली सहित चार राज्यों में किए गए अध्ययन पर आधारित है। रिपोर्ट में वर्णित अध्ययन से प्राप्त हुई जानकारियाँ देश के अधिकांश भागों के लिए भी सही हैं।

"अस्पृश्यता" तथा सामाजिक न्याय के उपायों के खिलाफ पूर्वाग्रहों के पूरी तरह उन्मूलन के लिए निम्नलिखित कदम उठाए जाना आवश्यक हैंः

(1) अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के बच्चों का कक्षा की बैठक व्यवस्था में तथा मध्यान्ह भोजन की बैठक व्यवस्था में अन्य बच्चों के साथ घुल–मिल जाना सुनिश्चित करने के लिए आगे बढ़कर सक्रिय कदम उठाए जाना। "अस्पृश्यता" के

खिलाफ एक प्रभावशाली उपाय के रूप में मध्यान्ह भोजन योजना में खाना बनाने वाली या उसे परोसने वाली व्यक्ति अनुसूचित जाति की महिला होना चाहिए। इस कदम के खिलाफ प्रतिरोध को दृढ़तापूर्वक दूर किया जाना चाहिए।

(2) एक ओर भारतीय जाति व्यवस्था की अमानवीय, राष्ट्र–विरोधी तथा संविधान–विरोधी प्रकृति, जाति–आधारित निष्ठाओं, पक्षपातों, पूर्वाग्रहों और शत्रुता की भावनाओं, तथा विशेष रूप से "अस्पृश्यता" पर आधारित भेदभावों पर, और दूसरी ओर संविधान में स्थापित आदर्श के रूप में समानता पर, जोर देते हुए मानवाधिकारों की शिक्षा को हर स्तर पर प्रत्येक शिक्षा संस्था में तथा प्रत्येक शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान में प्रारम्भ किया जाना चाहिए। इसमें इंस्टीट्यूट ऑफ ह्यूमन राइट्स एजुकेशन (मानवाधिकारों की शिक्षा का संस्थान) के अनुभव का उपयोग किया जाना चाहिए, और ऐसी संस्थाओं के प्रयासों को सरकार के द्वारा वित्तीय तथा अन्य प्रकार की सहायता के रूप में सक्रिय भागीदारी करते हुए सशक्त बनाया जाना चाहिए।

(3) शिक्षकों के पूरे समुदाय को संवेदनशील बनाने के लिए एक व्यापक अभियान चलाया जाना चाहिए ताकि वे शिक्षा संस्थाओं में व्याप्त "अस्पृश्यता"–आधारित भेदभाव के सभी रूपों के खिलाफ एक मजबूत दीवार बन जाएँ।

(4) मानवाधिकारों की शिक्षा को उन ऐतिहासिक परिस्थितियों की जानकारी भी देना चाहिए जो आज तक जारी हैं और जिन्होंने आरक्षण तथा सामाजिक न्याय के अन्य उपायों को अपरिहार्य और अनिवार्य रूप से आवश्यक बना दिया है। इसमें समानता से सम्बन्धित संविधान की संरचना पर, और अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा धार्मिक अल्पसंख्यकों की पिछड़ी जातियों सहित सभी पिछड़ी जातियों की उन्नति पर, जिसमें उनकी महिलाओं तथा उनके अन्य कमजोर समूहों की उन्नति पर, विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए तथा राष्ट्रीय प्रगति के लिए इन उद्देश्यों की नितान्त आवश्यकता को स्पष्ट किया जाना चाहिए। सभी लोगों के मन में यह बात बिठाई जाना चाहिए कि इन कार्यों में सहयोग देना उनका राष्ट्रीय तथा देशभक्ति का कर्तव्य है।

पूरे परिणाम सुनिश्चित करने के लिए, इन शैक्षिक उपायों को दूसरी ओर से आर्थिक, व्यावसायिक, स्वास्थ्य–तथा–पोषण सम्बन्धी उपायों तथा जीने की स्थितियों से सम्बन्धित उपायों के द्वारा सहारा दिया जाना चाहिए। मैं इन सहायक उपायों की विस्तृत जानकारी उन लोगों को उपलब्ध करवा सकता हूँ जो उसे जानने के इच्छुक हों।

इस कार्य में सार्थक सहयोग देने के लिए स्वैच्छिक संगठन तथा न्यास क्या कर सकते हैं – यह कार्य इतने विराट पैमाने का है कि इसके पूरे आयाम में केवल केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों और संस्थाओं द्वारा ही इसकी जिम्मेदारी उठाई जा सकती है। लेकिन स्वैच्छिक संगठन तथा न्यास इसमें ठोस तरीके से सहयोग कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, उनमें से प्रत्येक एक या एक से अधिक राज्यों, या एक अथवा एक से अधिक जिलों, या एक अथवा एक से अधिक ब्लाकों के सभी गाँवों या कस्बों की जिम्मेदारी लेकर चुने गए क्षेत्र में आँगनवाडियाँ तथा/या ऊपर खण्ड (X) के (1) और (3) में उल्लिखित प्रकार के आवासीय स्कूल स्थापित कर सकते हैं। जिन लोगों ने विशुद्ध शैक्षिक तथा सामाजिक प्रेरणा के कारण शैक्षिक संस्थाएँ स्थापित की हैं, वे भी इस तरीके से इस काम में सार्थक योगदान दे सकते हैं। इस प्रकार की स्वैच्छिक पहल वाले कदमों को, यदि गम्भीरता तथा निष्ठा के साथ उठाया जाए, तो वे उसी प्रकार के प्रतिरूप स्थापित कर सकते हैं जैसे कि आंध्रप्रदेश सरकार ने किए हैं।

लेकिन स्वैच्छिक संगठनों, न्यासों तथा निजी शिक्षा–उद्यमियों को सबसे पहले उन लोगों के प्रति अधिक ध्यान और सहयोग देने की नीति अपनाना होगी जिन्हें भारतीय जाति व्यवस्था के द्वारा सदियों से लेकर आज तक गैर–बराबर बना कर रखा गया है, ताकि वे शिक्षा में सामाजिक रूप से अग्रणी जातियों और गैर–एससी, गैर–एसटी तथा गैर–बीसी जातियों के वाकई में बराबर बन सकें। विभिन्न असमान सामाजिक वर्गों में भेद न करने और सभी की "समान रूप से" सेवा करने का पवित्र लगने वाला रवैया अपनाने का परिणाम भारतीय जाति व्यवस्था द्वारा निर्मित गैर–बराबरी को निरन्तर जारी रखना होगा।

क्योंकि, जैसा अमेरिकी राष्ट्रपति लिंडन जॉनसन ने 1964 में अमेरिका द्वारा सिविल राइट्स एक्ट (नागरिक अधिकार अधिनियम) पारित किए जाने के बाद कहा, "केवल अवसर के द्वार खोल देना काफी नहीं है। हमारे सभी नागरिकों में उन द्वारों से गुजरकर आगे बढ़ने की क्षमता होना भी बेहद जरूरी है।" यहाँ मैंने जिन उपायों की सूची दी है, वे तथा अन्य उपाय, ऐतिहासिक रूप से और वर्तमान में भी भारत के नागरिकों के वंचित और कमजोर वर्गों में अवसर के द्वारों से गुजरकर आगे बढ़ने और अपना जायज अधिकार पाने की इसी क्षमता को निर्मित करने के लिए जरूरी हैं।

कोई भी स्वैच्छिक संगठन, या न्यास या निजी शिक्षा–उद्यमी जो इस मानवीय, राष्ट्रीय, देशभक्ति के, तथा संवैधानिक उपक्रम में शामिल होना चाहता है, उसे मैं अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों तथा धार्मिक अल्पसंख्यकों की पिछड़ी जातियों सहित सभी पिछड़ी जातियों पर ध्यान केन्द्रित करते हुए सामाजिक न्याय के क्षेत्र में पूरे देश में कार्य करने के मेरे 65 वर्षों के संचित ज्ञान तथा अनुभव के आधार पर आवश्यक जानकारी और मार्गदर्शन प्रदान कर सकता हूँ।

1. P. S. Krishnan (2009), "Empowering Dalits for Empowering India: A Road-Map", New Delhi: Manak Publications.
2. P. S. Krishnan (2006), "Logical Step – The socio-historical and Constitutional Perspective and Imperatives of the Central Educational Institutions (Reservation in Admission) Bill, 2006", Frontline, 23 (8), May 5, 2006.
3. The Dalit Manifesto (1996), formulated by P.S. Krishnan on behalf of the National Action Forum for Social Justice, reprinted in P.S.Krishnan (2009), op.cit.
4. Report of Sub-Group-I (Chairman: P.S. Krishnan) on Perspective Planning for Empowerment of Scheduled Castes in the XII Plan, set up by the Planning Commission and Ministry of Social Justice and Empowerment
5. Reports of Task Forces for the Educational Development of SCs and STs (2012), Ministry of HRD, Govt. of India.
6. Recommendations of the Group of Ministers on Dalit Affairs set up in 2005 under Shri Pranab Mukherjee's Chairmanship (2008)
7. Report of National (Venkatachaliah) Commission for Review of the Working of the Constitution (2002).

पी.एस.कृष्णन (जन्म 1932) भारतीय प्रशासनिक सेवा से सचिव के पद से सेवानिवृत हुए हैं। वे अनुसूचित जाति,अनुसूचित जनजाति तथा पिछड़ा वर्ग (पिछड़े वर्ग के अल्पसंख्यकों खासकर महिलाओं तथा बच्चों) के सभी लोगों के अधिकारों, उनके उन्नयन तथा सशक्तिकरण के लिए काम करने के लिए जाने जाते हैं। उन्होंने इस सन्दर्भ में कई संवैधानिक पहल की हैं, योजनाएँ बनाई हैं। वे सामाजिक न्याय के लिए अभी भी इस काम में संलग्न हैं। उनसे shajincbc@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : भरत त्रिपाठी

कौन तय करता है कि मेरी जगह कहाँ है?

रितिका चावला

"घण्टी बजी। मैंने बस्ते में से अपना खाने का डिब्बा निकाला और कक्षा से निकल गई। मैं सीढ़ियों से नीचे उतरी और छप्पर के नीचे अपनी रोज की जगह पर जाकर बैठ गई। लोहे के जंगले की सलाखों के बीच में से झाँकते हुए, मैंने अपनी कक्षा की कुछ लड़कियों के समूह को पेड़ के नीचे गोल घेरे में बैठे हुए देखा। कुछ और बच्चे मैदान में खेल रहे थे। मैंने अपना खाना खत्म किया और जाकर बाई के पास जाकर बैठ गई। बाई ही स्कूल में मेरी अकेली दोस्त है। वह दफ्तर में काम करती है, और चिढ़ाने के लिए मुझे 'शक्तिमान' कहती है, पर मुझे अच्छा लगता है। स्कूल में हर दिन एक जैसा लगता है, हर मध्यान्ह भोजन का अवकाश भी एक जैसा...... हर दोपहर को मैं परिचित चेहरे खोजती हुई इधर–उधर घूमती रहती हूँ।" स्नेहा*

"स्कूल का वार्षिक दिवस आने वाला है। मैं बहुत उत्साहित हूँ। उस दिन साल में एक ही बार मुझे लगता है कि लोगों को मेरी जरूरत है। मुझे नृत्य करने से प्यार है, और मैं उसमें अच्छी हूँ। नृत्य प्रदर्शन करने की योजना बनाने वाले सभी समूह मुझे उसमें शामिल करना चाहते हैं। कक्षा में अन्य दिनों से यह एकदम फर्क होता है। हर बार जब भी शिक्षिका हमें समूह में करने के लिए कुछ काम देती हैं, तो कोई भी तब तक मुझे अपने समूह में नहीं लेता जब तक कि शिक्षिका उनको ऐसा करने के लिए नहीं कहतीं। यदि समूहों को शिक्षिका द्वारा बाँटा गया होता है, तो मुझे सबसे आसान काम, जैसे तस्वीरें इकट्ठी करने का काम, करने को दिया जाता है। मैं जानती हूँ कि मुझे चीजों को लिखने और याद रखने में दिक्कत होती है, लेकिन ऐसा नहीं है कि मैं वह जानबूझ कर करती हूँ। मैं अपनी कक्षा के समूहों का हिस्सा क्यों नहीं हो सकती, और सिर्फ नृत्य करने के लिए नहीं?" सोनल*

स्नेहा और सोनल की ये दोनों कहानियाँ सच्ची हैं। वे दोनों एक समावेशी स्कूल की कक्षा 8 में सहपाठी हैं। जब मैं 'समावेशी' कहती हूँ, तो मेरा मतलब है कि यह ऐसा स्कूल है जहाँ सभी प्रकार की सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमियों के बच्चे, तथा सीखने की कठिनाइयों से जूझ रहे बच्चे, और उनके साथ ही तंत्रिका–सम्बन्धी रोगों से ग्रस्त बच्चे, सभी एक ही कक्षा में पढ़ते हैं। सीखने की कठिनाइयों या अक्षमताओं से ग्रस्त बच्चों को स्कूल तथा शिक्षकों के द्वारा सुधारात्मक कक्षाओं, गणित तथा अँग्रेजी में समानान्तर कक्षाओं, भिन्न पाठ्यक्रमों, भिन्न मूल्यांकनों आदि के माध्यम से अतिरिक्त सहायता प्रदान की जाती है। स्कूल के सभी शिक्षक और कर्मचारी विशेष जरूरतों वाले बच्चों को जानते हैं, चाहे वे उन्हें पढ़ाते हों या नहीं पढ़ाते हों। लिए जाने वाले हर निर्णय के बारे में माता–पिताओं को जानकारी दी जाती है, तथा माता–पिताओं, शिक्षकों, प्रधानाचार्य और कभी–कभी स्कूल के कानूनी सलाहकार को बैठकों में शामिल करते हुए उनके बीच में संवाद का मजबूत रिश्ता बनाया जाता है। फिर भी, स्नेहा और सोनल जैसे बच्चों के लिए कुछ ऐसा है जिसको स्कूल, या माता–पिता न तो नियंत्रित कर सकते हैं, न बदल सकते हैं– वह है स्कूल के 'अन्य' बच्चे।

स्नेहा डाउन सिंड्रोम से पीड़ित है और अपनी इस समस्या के कारण अन्य लोगों को अजीब–सी दिखाई देती है। ऐसा नहीं है कि उसकी कक्षा के बच्चे कभी उसके निकट नहीं आए। शुरुआत में जब एक नई विद्यार्थी उसकी कक्षा में शामिल हुई तो उसने स्नेहा से बात करने की कोशिश की, पर जब उसे महसूस हुआ कि स्नेहा अत्यन्त संवेदनशील लड़की है तो वह उससे दूर हो गई। हालाँकि उसकी सहपाठियों ने कभी उसे परेशान नहीं किया और न ही चिढ़ाया, पर फिर भी एक तरह से स्नेहा के लिए दोस्तों की कमी है। अन्य बच्चों के विपरीत, उसके जीवन में 'लड़कियों के साथ उनके या अपने घर पर रात को ठहर जाना' या किशोरियों की जन्मदिन की पार्टियाँ आदि नहीं होतीं, ऐसे आयोजनों में वह बहुत ही कम निमंत्रित की

**Name changed to protect identity.*

जाती है। उसे तभी बुलाया जाता है जब पूरी कक्षा को निमंत्रित किया जाता है, लेकिन तब नहीं जब कोई बच्ची अपनी कुछ खास सहेलियों को निमंत्रित करती है।

दूसरी ओर, सोनल को उस तरह से सचमुच में दोस्तों की कमी नहीं है। वह नृत्य करने में बेहद निपुण है और उसे पाठ्यक्रम से इतर सभी गतिविधियों में भाग लेना अच्छा लगता था। लेकिन जब बात शैक्षिक कार्य की होती तब उसे यह एहसास होता था कि वह 'पर्याप्त बुद्धिमान नहीं थी'। इस तरह के भेदभाव के सूक्ष्म रूपों ने उसे आहत किया। वह ये भावनाएँ अपने माता–पिता या शिक्षकों के साथ साझा नहीं करती, क्योंकि उसे लगता है कि वे इससे बहुत चिन्तित हो सकते हैं। वह कम बच्चों वाली समानान्तर कक्षा का भी हिस्सा है। इस कक्षा ने उसे अपनी अँग्रेजी की शिक्षिका के साथ एक विशेष सम्बन्ध निर्मित करने में मदद की है, पर अभी भी वह सामान्य कक्षा में आने की उम्मीद करती है।

सोनल जैसे बच्चों के लिए समावेशी परिवेश का हिस्सा होना बहुत मुश्किल होता है, और स्नेहा जैसे बच्चों के लिए यह और भी बदतर हो जाता है क्योंकि उनकी कमी साफ दिखाई देती है। स्कूल के शिक्षकों तथा कर्मचारियों द्वारा उनके साथ समान रूप से या अधिक संवेदनशीलता से पेश आने या स्कूल के वार्षिक दिवस के मौके पर विशेष तवज्जो देने से उस सबकी भरपाई नहीं होती जिसका सामना इन बच्चों को रोज ही करना पड़ता है। जब इन बच्चों को चिढ़ाया गया या उनकी हँसी उड़ाई गई, तो उन स्थितियों में शिक्षकों ने हस्तक्षेप किया और दूसरे बच्चों को इसके लिए डाँटा। ऐसे भी अवसर आए जब शिक्षकों ने बच्चों का गोल घेरा बनवाया ताकि वे कक्षा की विविधता को समझ सकें और दूसरों की जरूरतों के प्रति संवेदनशील हों। उन्होंने ऐसे बच्चों और उनके सहपाठियों, दोनों से एक–एक करके बातचीत भी की। लेकिन आखिरकार उनके सहपाठी भी बच्चे ही हैं, एक सीमा के बाद उन्हें "भाषण देने" का परिणाम नकारात्मक हो सकता है। इसलिए, शिक्षक वास्तव में किस हद तक ऐसे मामलों में हस्तक्षेप कर सकते हैं? ऐसे बच्चों के लिए स्थितियों को वे वाकई में कितना नियंत्रित कर सकते हैं, या बदल सकते हैं? क्या वे विद्यार्थियों के व्यवहार को सचमुच में इस सीमा तक प्रभावित कर सकते हैं? हो सकता है कि लम्बे समय में ऐसा हो सके, पर तत्काल तो यह नहीं हो सकता।

अधिकांश विद्यार्थियों का कोई दोस्त या दोस्तों का समूह होता है। दोस्ती का आधार वे साझा चीजें होती हैं जिनमें उनकी रुचि होती हैं या फिर दोस्ती चीजों को साझा करने और अपने विचार और अनुभूतियों को बाँटने की बुनियादी जरूरत को पूरा करने के लिए होती है। लेकिन किसी स्तर पर, विशेष जरूरतों वाले बच्चों में इसका अभाव प्रतीत होता है। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, विशेष जरूरतों वाले बच्चों के लिए समानान्तर कक्षाओं के माध्यम से स्कूल अतिरिक्त सहायता प्रदान करता है। वे बच्चे भी इन कक्षाओं का हिस्सा होते हैं, जो अन्य कारणों से, जैसे कि कम अंक पाने के कारण, गणित और अँग्रेजी के साथ संघर्ष कर रहे होते हैं। हालाँकि अधिकांश बच्चों ने कहा कि समानान्तर कक्षाएँ मददगार होती हैं, लेकिन जो बच्चे कभी भी इन कक्षाओं में शामिल नहीं हुए, वे उनमें न भेजा जाना ही पसन्द करते हैं।

समावेशी स्कूल के परिवेश से एकबारगी निकल चुकने के बाद, विद्यार्थियों के अनुभवों के बारे में पूछे जाने पर, इस स्कूल विशेष के प्राचार्य ने जिक्र किया कि जो "सामान्य" बच्चे थे, वे जब वापस आए तो एक समावेशी परिवेश से उन्हें परिचित कराने के लिए कृतज्ञता अनुभव करते हुए उन्होंने स्कूल को धन्यवाद दिया। उदाहरण के लिए, जब उन्हें अपने विश्वविद्यालयों या कार्य स्थलों में विविधता का अनुभव हुआ, तो वे दूसरे लोगों के प्रति अधिक संवेदनशील थे; लेकिन विशेष जरूरतों वाले विद्यार्थियों में से कोई भी अपने अनुभवों के बारे में बात करने के लिए, और यह बताने के लिए लौटकर नहीं आया कि क्या उन्हें भी अपनी स्कूली पढ़ाई के दौर में मजा आया था। क्या स्कूल में अन्य सभी विद्यार्थियों की तरह वे भी सचमुच में खुश थे? मुझे यकीन है कि हर बच्चे को स्कूल में दूसरे सभी बच्चों से अलग अनुभव होता है, लेकिन कुछ बातें ऐसी होती हैं, जिन्हें हम सभी अपने पूरे जीवन भर सराहते हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण होते हैं दोस्ती के वे रिश्ते जो हम स्कूल में बनाते हैं, और जो कभी–कभी जिन्दगी भर चलते हैं।

पिछले चार वर्षों से शिक्षा के क्षेत्र में होने के कारण, मुझे यह समझ में आया है कि बहुत–सी चीजों को बदले जाने की जरूरत है। मैं समावेशी परिवेशों से सम्बन्धित बहुत–सी दुविधाओं के बारे में सोच सकती हूँ, जैसे कि यदि मैं ऐसे विद्यार्थियों की सहपाठी, या फिर शिक्षिका ही होती तो मुझे यह समझने में मुश्किल होती कि मैं उनके साथ समानुभूति पूर्ण व्यवहार रखूँ या उनके साथ अन्य "सामान्य" विद्यार्थियों की तरह ही पेश आऊँ। क्या ये विद्यार्थी विशेष स्कूलों में बेहतर प्रदर्शन करेंगे, या उन्हें वहाँ भेजना एक तरह का बहिष्कार होगा, जो समावेशी

परिवेशों में उनके साथ अलग प्रकार का व्यवहार किए जाने से भी बदतर होगा।

मैं समझती हूँ कि यदि हम इस देश के हर बच्चे तक पहुँचना चाहते हैं तो शायद समावेश ही उसका मार्ग है। यदि हम उचित तरीके से शिक्षकों को प्रशिक्षित करें तथा सभी स्कूलों में विशेष शिक्षा के विशेषज्ञों को रखें, लोगों की मानसिक सोच को बदलने के लिए पालकों तथा समुदाय को इसमें शामिल करें, मूल्यांकन के प्रारूपों को बदलें, और पाठ्यक्रम तथा शिक्षा पद्धति में सुधार करें, तो इसे बेहतर ढंग से क्रियान्वित किया जा सकता है। पर इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है कि क्या यह सुनिश्चित करने का कोई तरीका है कि सभी बच्चों को, उनकी विशेष जरूरतों के बावजूद, स्कूली पढ़ाई का बहुत सुखद अनुभव हो? क्या अलग रखने की प्रवृत्ति को पूरी तरह से नियंत्रित करने का कोई तरीका है? यह एक जटिल मुद्दा है, और जैसा कि पहले जिक्र किया गया है, इसका समाधान खोजने के लिए शिक्षकों, पालकों, कानूनी सलाहकारों और विशेष शिक्षा के विशेषज्ञों को मिलकर प्रयास करने की आवश्यकता है। और जहाँ तक इसके समाधान का प्रश्न है, इसका हल छोटे–छोटे कदमों में हो सकता है – जैसे कि दिए जाने वाले काम को बाँटने का जिम्मा विद्यार्थियों को सौंपने के बजाय यह स्वयं शिक्षक के द्वारा ही किया जाना, या कि केवल अंक हासिल करने के रवैए के बजाय बच्चों को सहयोग करते हुए काम करने की प्रक्रिया का मूल्य समझाना, और विशेष जरूरतों वाले बच्चों के लिए दया महसूस करने या उनसे दूर रहने के बजाय, सहपाठियों को उन्हें स्वीकार करने के लिए प्रोत्साहित करना। मैं जानती हूँ कि अक्षमता ग्रस्त बच्चों को अपनी सीमाओं का एहसास होता है, लेकिन हम कम से कम इतना तो कर सकते हैं कि उन्हें निरन्तर अपनी कमियों के बारे में ही न सोचना पड़े, बल्कि हम उन्हें समुचित सम्मान के साथ वैसे ही स्वीकार करें जैसे वे हैं। समाज की सोच में ऐसा परिवर्तन लाने के लिए हमें चेतना निर्मित करने और अपने–अपने समुदायों में समावेश का प्रचार–प्रसार करने की जरूरत है।

एक बात स्पष्ट है–अपने विद्यार्थियों के दृष्टिकोण और व्यवहार में बदलाव लाने के लिए हमें अभी लम्बा सफर तय करना है। भारतीय शिक्षा व्यवस्था के लिए समावेश एक दूर का सपना है, और अभी हम परिवर्तन की केवल दहलीज पर खड़े हैं। यह परिवर्तन सबसे पहले शिक्षकों, स्कूलों तथा अन्य संस्थानों, पालकों, सहपाठियों, और व्यापक समाज के दृष्टिकोणों में होना पड़ेगा। साथ ही, यह परिवर्तन ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर दोनों दिशाओं में होना पड़ेगा, जिसमें ऊपर नीतियों में परिवर्तन होंगे और नीचे आचरण–आधारित परिवर्तन होंगे। जब तक हम पालकों, शिक्षकों और विशेष जरूरत वाले बच्चों को स्वयं तथा उनके हमउम्र साथियों सहित अन्य भागीदारों को इस प्रक्रिया के हर कदम में शामिल नहीं करेंगे, तब तक समावेश को हकीकत में हासिल करना एक बड़ी चुनौती बनी रहेगी।

रितिका चावला फिलहाल स्कूलों के प्रमुखों/प्राचार्यों/प्रधान अध्यापकों को प्रशिक्षित करने वाले एक संगठन, इंडिया स्कूल लीडरशिप इंस्टीट्यूट, में प्रोग्राम मैनेजर–नेशनल फैलोशिप के रूप में कार्य कर रही हैं। उन्होंने हाल ही में अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय से एम.ए. (शिक्षा) का अध्ययन पूरा किया है और वे टीच फॉर इंडिया (टी.एफ.आई.) की पूर्व–छात्रा हैं। टी.एफ.आई. फैलोशिप के दौरान उन्होंने मुम्बई के एक नगरपालिका स्कूल में पढ़ाया तथा अपने स्कूल की इमारत को फिर से बनवाने की परियोजना पर भी कार्य किया। यह लेख मास्टर्स प्रोग्राम के अन्तर्गत उनके विस्तृत अध्ययन 'अन्डरस्टैंडिंग टीचर्स', पेरेन्टस एण्ड स्टूडेंट्स माइण्डसैट्स इन एण्ड टुवर्ड्स इनक्लूजिव क्लासरूम सैटिंग्स'' का हिस्सा है। उनसे ritika@indiaschoolleaders.org पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद:** सत्येन्द्र त्रिपाठी

खण्ड ब

समावेश की राह में रुकावटें

शिक्षा में समावेश की राह में रुकावटें

ऐनी जॉन

स्कूल खुले हुए एक माह हो चुका था। अपर किण्डरगार्टन की शिक्षिका श्रीमती जी. चिन्तित थीं, "मैं जो भी कहूँ, एस कुछ भी नहीं समझती, और मेरी समझ में नहीं आता कि उसे कैसे पढ़ाऊँ। वह अपने आसपास के दूसरे बच्चों से नकल कर लेती है। खेल के समय में, वह अलग खड़ी रहती है और दूसरों को खेलते देखती रहती है पर खुद शामिल नहीं होती।" यह जिस बच्ची की बात है उसे शिक्षा के अधिकार अधिनियम (आर.टी.ई.एक्ट) के तहत स्कूल में प्रवेश दिया गया था, पर वह अँग्रेजी नहीं समझती थी। अँग्रेजी अधिकांश निजी स्कूलों में शिक्षा का माध्यम है। इस लेख में मैंने 'निजी स्कूलों' शब्दों का प्रयोग उन स्कूलों के लिए किया है जिनमें आर.टी.ई.एक्ट को लागू करवाया गया है। उसकी शिक्षिका को समझ में नहीं आता था कि वह इस परिस्थिति का समाधान कैसे करे!

यह और ऐसी ही अन्य चिन्ताएँ स्कूली व्यवस्था में कार्यरत उन लोगों को परेशान और हताश करती हैं जो 2008 में आर.टी.ई.एक्ट के लागू किए जाने के बाद उत्पन्न परिस्थिति का सामना करने का प्रयास कर रहे हैं। जो शिक्षक सफल होना चाहते हैं, वे उन बच्चों के साथ काम करने के लिए स्वयं अपनी सृजनशीलता और अन्तर्बोध पर निर्भर करते हैं, जो समान गणवेश (यूनीफॉर्म) पहनने के बावजूद दूसरे बच्चों से भिन्न दिखाई देते हैं। क्या वे बच्चे वाकई में भिन्न हैं? उनमें दूसरे बच्चों से क्या अन्तर है? क्या हमें उनको सबके साथ 'घुल-मिल जाने' के लिए अनुकूल बनाने की कोशिश करना चाहिए, या उन्हें भिन्न बने रहने देना चाहिए?

एक बच्चे को बड़े होने और सीखने के लिए ऐसे वातावरण की आवश्यकता होती है जहाँ उसकी सामाजिक तथा भावनात्मक जरूरतें पूरी होती हैं। ऐसा सहायक वातावरण निर्मित करने के लिए यह बेहद जरूरी है कि समुदाय के हर उस सदस्य को जो समावेश की प्रक्रिया में संलग्न है, समान प्रभाव वाला समझा जाए। इस समीकरण में कोई देने वाले और कोई लेने वाले नहीं होते, क्योंकि यह कोई दान की क्रिया नहीं है, बल्कि ऐसा काम है जो उसमें लगे सभी लोगों को लाभान्वित करता है। यदि इसके किसी एक भागीदार को दूसरे से बेहतर या बड़ा समझा जाता है तो समावेश के कार्य की बुनियादी अभिव्यक्ति को ही समझने में चूक हो जाती है।

स्कूल का परिवेश उस बच्चे के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वातावरण होता है जिसे समावेश के लिए चुना जाता है, और जो लोग समावेश की प्रक्रिया को सबसे अधिक प्रभावित करते हैं, वे हैं – बच्चा, माता-पिता (उस बच्चे के माता-पिता तथा अन्य विद्यार्थियों के माता-पिता), स्कूल का प्रशासन, स्कूल के सहयोगी कर्मचारी तथा शिक्षक। यही वह समुदाय है जिसके लिए समावेश के दर्शन को और उसके लागू किए जाने के कारणों को समझना तथा उनसे सहमत होना जरूरी है ताकि समावेश की प्रक्रिया जितनी सम्भव हो उतनी सुगमता से और कारगर ढंग से संपन्न हो सके।

यूनेस्को (2008) ने समावेश की राह में निम्न रुकावटों की सूची बनाई है: दृष्टिकोण सम्बन्धी कारक, भौतिक रुकावटें, पाठ्यक्रम, शिक्षकों के दृष्टिकोण तथा क्षमताएँ, भाषा तथा सम्प्रेषण, सामाजिक-आर्थिक कारक, वित्तीय संसाधन एवं शैक्षिक व्यवस्था का संगठन और नीतियाँ। हालाँकि इनमें से प्रत्येक महत्त्वपूर्ण है, पर इस लेख में मैं अपने को केवल दृष्टिकोण सम्बन्धी कारकों – जिनका सम्बन्ध स्कूल के दृष्टिकोण तथा माता-पिताओं के दृष्टिकोणों से होता है, भाषा तथा सम्प्रेषण, और सामाजिक-आर्थिक कारकों तक सीमित रखूँगी। ये किस प्रकार भारत में शिक्षा के अधिकार अधिनियम को लागू करने के सन्दर्भ में रुकावटों को निरूपित करते हैं?

समावेशी शिक्षा की सफलता इस बात से तय होती है कि समावेश की प्रक्रिया के प्रति तथा उस बच्चे के प्रति जिसका समावेश किया जाना है शिक्षकों का दृष्टिकोण

क्या है। इसके खिलाफ शिक्षकों का प्रतिरोध विभिन्न कारणों से हो सकता है। एक तो मुख्यधारा के शिक्षक यह महसूस करते हैं कि उनके पास शैक्षणिक चुनौतियाँ पेश करने वाले विद्यार्थियों को पढ़ाने के लिए आवश्यक कौशल नहीं होते, क्योंकि निर्धारित पाठ विभिन्न स्तरों पर पढ़ाए जाने के लिए निर्मित नहीं किए जाते। यह समस्या उनके इस अपराध बोध के कारण और जटिल हो जाती है कि किसी खास बच्चे पर, या कुछ खास बच्चों के समूह पर अलग से ध्यान देने पर दूसरे विद्यार्थियों को दिए जाने वाले शैक्षणिक समय की हानि होगी। समावेश के प्रति शिक्षकों के प्रतिरोध का एक अन्य सम्भावित कारण समावेश की उनकी गलत समझ और समावेश के प्रति उनका "दर्शन" होता है; कुछ शिक्षक समावेश को 'बच्चे को अन्य सभी बच्चों जैसा बना लेने' की प्रक्रिया की तरह देखते हैं, जबकि अन्य शिक्षक समावेश को एक ऐसा वातावरण प्रदान करने की तरह देख सकते हैं जिसमें भिन्न–भिन्न प्रकार की जरूरतों की पूर्ति हो सके।

जब पढ़ाने और सिखाने की सामग्री अँग्रेजी में होती है, तो जिस बच्चे को पहले से अँग्रेजी का कोई ज्ञान न हो उसे पाठ को समझने में और पाठ्यक्रम को अपनाने में बहुत कठिनाई होगी। अकसर, ऐसे बच्चों के लिए अँग्रेजी से उनका सामना केवल स्कूल में उनके शिक्षकों तथा उनके सहपाठियों के माध्यम से होगा। ऐसे बच्चे इस भाषा में उस तरह रचे–बसे नहीं होते जैसे कि उनके मध्यमवर्गीय सहपाठी होते हैं। ऐसा न होना इन बच्चों को विशाल शब्द भण्डार से वंचित रखता है। उनके मध्यमवर्गीय सहपाठी कहानी की किताबों के द्वारा, दूसरों (माता–पिताओं, दोस्तों) को अँग्रेजी में बात करते हुए सुनने के द्वारा, अँग्रेजी में टेलीविजन के कार्यक्रम या फिल्में देखने के द्वारा, या यहाँ तक कि अखबार में छपी हुई अँग्रेजी ही देखने के कारण अँग्रेजी से अच्छी तरह परिचित होते हैं। यदि उन बच्चों को समुचित सहायता प्रदान नहीं की जाती तो कक्षा में होने वाली पढ़ाई और उनके सीखने के बीच की खाई और चौड़ी होती चली जाएगी। इसके परिणामस्वरूप उन बच्चों से (अतिरिक्त कक्षाओं या निजी शिक्षण, ट्यूशन, के द्वारा) कक्षा के साथ 'कदम मिला लेने' की अपेक्षा की जाएगी, और उनकी कक्षा का शिक्षक अपने को इस चुनौती के नाकाबिल तथा हताश महसूस करेगा, और स्कूल में 7 घण्टे बिताने के दौरान बच्चे उससे अपने को कटा हुआ महसूस करेंगे।

इसके अलावा, मैंने अनुभव किया है कि जो बच्चे शिक्षा की माध्यम भाषा में निपुण नहीं होते और कक्षा के कामकाज में भाग नहीं लेते, उनके साथ उनके सहपाठियों द्वारा भी भेदभाव किया जाता है। छोटे बच्चे उन कहानियों का अभिनय करते हैं जो उन्होंने पढ़ी या टेलीविजन पर देखी होती हैं। उनके बीच में जो भी बच्चा कहानी, या उसकी 'भाषा' का प्रसंग नहीं समझता, वह अलग–थलग पड़ जाता है। एक दस साल की लड़की (जो सामाजिक तथा आर्थिक रूप से वंचित पृष्ठभूमि की थी), जिसके साथ मैं काम कर रही थी, मध्यम वर्गीय बच्चों के साथ एक समावेशी कार्यक्रम में थी। उसे मित्र बनाने में बहुत कठिनाई होती थी। जब उससे पूछा गया कि उसे दूसरे बच्चों में क्या प्रमुख अन्तर लगता था, तो उसने कहा 'अँग्रेजी – वे अलग ढंग से बात करते हैं'।

हालाँकि यह स्पष्ट है कि जिन बच्चों को पहले से अँग्रेजी भाषा का ज्ञान नहीं होता उन्हें उस भाषा को सीखने के लिए सहायता की जरूरत पड़ेगी, परन्तु जिस प्रश्न का उत्तर देना सबसे कठिन है, वह है कि – इन बच्चों को हम वह अतिरिक्त सहायता कब दें, जिसकी उन्हें जरूरत है। शिक्षा व्यवस्था के लिए 'पाठ्यक्रम से इतर गतिविधियों (जैसे खेल–कूद या कला)' के समय का या मध्यान्ह भोजन के अवकाश का इन सहायता कक्षाओं के लिए उपयोग करना सुविधाजनक होगा। परन्तु, यह देखते हुए कि ऐसे बच्चों का उनके सहपाठियों के साथ एकीकरण ज्यादा करके पाठ्यक्रम से इतर गतिविधियों के माहौल में ही सम्भव हो पाता है, क्योंकि शायद ऐसे अवसरों के दौरान ही उनको परिस्थिति थोड़ी अधिक बराबरी वाली लगती है, क्या हमें, इसके निहित परिणामों को जानते हुए भी, उन्हें इस समय (और सहपाठियों के साथ मेलजोल के अवसरों) से वंचित करना चाहिए?

किसी बच्ची का पेंसिल बॉक्स किस तरह का है, उसके बाल सँवारने का ढंग कैसा है, उसने किस तरह के जूते पहने हुए हैं, वह घर से किस तरह की खाने की चीजें नाश्ते या मध्यान्ह भोजन के लिए लाती है, ये सभी बातें उस बच्ची की सांस्कृतिक तथा सामाजिक–आर्थिक पृष्ठभूमि की सूचक होती हैं और वे मध्यमवर्गीय बच्चों से भरी कक्षा में भेदभाव का कारण बन जाती हैं। बच्चे इन चीजों के अन्तरों का निरीक्षण करते हैं। यदि ये अन्तर 'सामान्य भिन्नताओं' की तरह समझे और स्वीकार नहीं किए जाते, तो वे भेदभाव और दुष्टतापूर्वक तंग करने के कारक बन जाते हैं।

स्कूल में प्रदान की जाने वाली विभिन्न प्रकार की सुविधाओं से सहज रूप से परिचित होना (या न होना) भी

ऐसी रुकावटें निर्मित कर सकता है जो आसानी से पहचान में नहीं आतीं। ऐसे छोटे बच्चे जो घर पर कमोड (पश्चिमी शैली का शौचालय) का इस्तेमाल नहीं करते, वे स्कूल में भी उसके उपयोग से परिचित नहीं होते, जिसकी वजह से उनके द्वारा गलती से गंदगी या पानी फैलना जैसी बातें हो सकती हैं, जो उनके सहपाठियों और अन्य लोगों को दिखाई दे जाती हैं। इसका परिणाम, वयस्कों द्वारा उनके प्रति दयाभाव दिखाए जाने या नापसंदगी से देखे जाने के अलावा, उनके सहपाठियों द्वारा उन्हें दुष्टतापूर्वक तंग करना, अपशब्द कहना, व्यंग्यपूर्ण नामों से उनका मजाक उड़ाना और बाद में उनका सामाजिक बहिष्कार तक हो सकता है। अपने सहपाठियों से बच्चों का अलगाव हो जाने के परिणामस्वरूप सामाजिक कठिनाइयाँ पैदा होती हैं जो उनके आत्म–सम्मान को भी प्रभावित करती हैं। समावेश की राह में इस प्रकार की रुकावटों को पहचानने की जिम्मेदारी स्कूल में काम करने वाले संवेदनशील लोगों पर आ जाती है।

भारतीय समाज में (निचली जातियों में जन्म या सामाजिक–आर्थिक स्थिति के कारण) कमजोर समूहों के खिलाफ वर्ग और जाति के पक्षपात के फलस्वरूप ऐसे दृष्टिकोण निर्मित होते हैं जो भेदभाव करते हैं और वंचित समूहों पर पूर्वाग्रह ग्रस्त छवियाँ आरोपित करते हैं। मध्यम वर्गीय बच्चों के माता–पिताओं की यह आम धारणा होती है कि सुविधाओं से वंचित परिवारों से आने वाले बच्चों का आचरण फर्क होता है, और वे उन चीजों को हथिया लेंगे जो उनकी नहीं होती। और यह भी कि ऐसे बच्चों को उनके घरों में सही और गलत के बुनियादी मूल्यों की शिक्षा नहीं मिलती, वे बीमारियों के वाहक होते हैं और उन्हें साफ–सफाई की बुनियादी बातों की समझ नहीं होती। जो माता–पिता (शुक्र है कि सभी नहीं) अपने बच्चों को निजी स्कूलों में भेजते हैं, वे अपने (स्वच्छ, स्वस्थ और 'नैतिक रूप से दोषरहित' तथा 'अच्छे आचरण वाले' –जो न झूठ बोलें, न चोरी करें, न गंदी भाषा इस्तेमाल करें, न आक्रामक हों) बच्चों के प्रतिदिन 7 घण्टे ऐसे बच्चों के साथ बिताने, जिनमें ऐसे सद्गुण नहीं होते, के विचार मात्र से अपेक्षित बेचैनी और क्षोभ से प्रतिक्रिया करते हैं। कार्यरूप में इसका परिणाम यह होता है कि वे आर.टी.ई. एक्ट के माध्यम से आने वाले बच्चों के खिलाफ अपने बच्चों के मन में एक दृष्टिगत पक्षपात की धारणा बैठा देते हैं। इस तरह का पक्षपात हमारे शिक्षकों में भी मौजूद रहता है, जो आखिरकार उसी संस्कृति का हिस्सा होते हैं।

खुले और निरन्तर चलने वाले संवाद उन सब लोगों की पहुँच में होना चाहिए जो समावेश की प्रक्रिया में संलग्न हैं। जो स्कूल उन पालकों के प्रति संवेदनशील नहीं हैं जो पूरी तरह साक्षर हैं या वे जो अँग्रेजी में पढ़ना और लिखना नहीं जानते, उन स्कूलों के प्रमुख ऐसे पालकों को न तो कोई सहायता प्रदान करेंगे न ही उन्हें यह विश्वास दिला पाएँगे कि वे भी समावेश की प्रक्रिया का हिस्सा हैं। जो माता–पिता अँग्रेजी से सुपरिचित नहीं हैं, उन्हें स्कूल कार्यक्रमों (जैसे कि वार्षिक दिवस) से बाहर रखकर उनके भिन्न होने का एहसास दिलाया जाता है, जो उनके और उनके बच्चों की अलगाव की भावना को और बढ़ा देता है। एक शिक्षक को यह ख्याल आया कि अँग्रेजी में कमजोर पालकों को सभी संवादों में शामिल करना सुनिश्चित करने के लिए स्थानीय भाषा में निपुण किसी पालक (आर.टी.ई. द्वारा प्रवेश पाने वाले किसी बच्चे का नहीं) को दुभाषिए की तरह नियुक्त कर दिया जाए। इस तरह के सरल उपाय संवाद की खाई को पाटने में सहायक हो सकते हैं।

शिक्षा के अधिकार अधिनियम के माध्यम से ऐसे स्कूलों में प्रवेश पाने वाले बच्चों में से कुछ के माता–पिता ने अपनी यह आशंका जताई है कि उनके बच्चों को भिन्न महसूस करवाया जाएगा। ऐसे पालकों को उन सहायक उपायों को जानने और समझने की जरूरत है जिनका प्रावधान उनके बच्चों के लिए किया गया है, अर्थात उनके बच्चों की जरूरतों को कब और कैसे पूरा किया जाएगा। इसके अलावा उन्हें अपने बच्चों की शिक्षा में उनके द्वारा दिए जाने वाले योगदान (न केवल बच्चों को पढ़ने और अपना गृहकार्य करने के लिए स्थूल रूप से जगह मुहैया कराने, बल्कि स्कूल की प्रक्रियाओं और गतिविधियों में उनकी सक्रिय भागीदारी में मदद करने) का महत्त्व समझने की भी जरूरत है। अकसर वे केवल इस बात के लिए कृतज्ञ भर होते हैं कि उनके बच्चे को ऐसी शिक्षा प्राप्त हो रही है जो अन्यथा उसके लिए सम्भव नहीं हो पाती। कृतज्ञता का यह भाव और उसके साथ ही पालकों की तरह अपने बच्चे की शिक्षा में दखल देने के प्रति झिझक उनको इस प्रक्रिया में बराबर के भागीदार बनने के लिए सशक्त नहीं बनने देते। परन्तु, पालकों को शिक्षा व्यवस्था में सामाजिक, बौद्धिक, सांस्कृतिक तथा व्यक्तिगत रूप से शामिल होने का हक है।

हम वास्तविक समावेश को अपना लक्ष्य बनाना चाहते हैं, पर क्या हम उन बाधाओं और अवरोधों से पार पा सकेंगे जो इसके मार्ग में आती हैं? क्या हम पक्षपातों वाले

दृष्टिकोणों को बदलने, सभी प्रकार के अन्तरों के प्रति संवेदनशील होने और उनके बारे में पूर्वाग्रहों से ग्रस्त निर्णय लेने के बजाय उनको सराहने में सक्षम हो सकेंगे? क्या हम समावेश की प्रक्रिया को सुगम बनाने और कमजोर वर्गों के इन असुरक्षित बच्चों के आत्मबोध को क्षति पहुँचाए बगैर उन्हें सफलतापूर्वक बुनियादी स्कूली शिक्षा दिलवा सकेंगे?

References

- Audette, B & Algozine,B (1997). "Re-inventing Government? Let's Reinvent Special Education," Journal of Learning Disabilities 30.
- Reddy, A. N., and Sinha, S. (2010). School Dropouts or Pushouts? Overcoming Barriers for the Right to Education. CREATE PATHWAYS TO ACCESS. Research Monograph No. 40 from http://files.eric.ed.gov/
- Slee, Roger (2001) Social justice and the changing directions in educational research: the case of inclusive education, International Journal of Inclusive Education, 5:2-3, 167-177, DOI: 10.1080/13603110010035832
- United Nations Educational, Scientific and Cultural Organization. (2008).Barriers to inclusive education. Retrieved April 6, 2010, from www.unescobkk.org/education/appeal/programme-themes/inclusive-education/thematic-issues/barriers-to-inclusive-education/
- York, J.,Vandercook, T., MacDonald, C., Heise-Neff, C., & Caughey, E(1992). Feedback about integrating middle-school students with severe disabilities in general education classes. Exceptional Child, 58 (3): 244-58

ऐनी जॉन पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त एक नैदानिक मनौवैज्ञानिक (क्लीनिकल साइकोलॉजिस्ट) हैं। वे दो दशक से भी अधिक समय से माल्या अदिति इण्टरनेशनल स्कूल, बेंगलूरु में विशेष शिक्षाविद तथा स्कूल की मनौवैज्ञानिक के रूप में कार्यरत हैं। सकारात्मक मनोविज्ञान तथा बच्चों में परिस्थितियों के प्रति लचीलापन विकसित करना उनकी रुचि के क्षेत्रों में शामिल हैं। उनसे mais.annie@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : भरत त्रिपाठी

किशोरियों द्वारा बीच में स्कूल छोड़ देने के कारण

सिन्थिया स्टीफेन

भारत के कई राज्यों ने यह सुनिश्चित करने के लिए प्रभावशाली कदम उठाए हैं कि बच्चे, विशेष रूप से लड़कियाँ, स्कूल जाएँ और जितने अधिक समय तक सम्भव हो वहाँ पढ़ना जारी रखें। कर्नाटक में, 70 से भी अधिक तालुकों में सामाजिक रूप से कमजोर हजारों लड़कियाँ कस्तूरबा गाँधी बालिका विद्यालय (के.जी.बी.वी.) आवासीय स्कूलों में अध्ययन करती हैं, 8वीं कक्षा तक की पढ़ाई पूरी करती हैं, और फिर नियमित स्कूलों में, या सर्व शिक्षा अभियान के अन्तर्गत राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान (आर.एम.एस.ए.) के आवासीय स्कूलों में स्थानान्तरण करती हैं। पर क्या यह पर्याप्त है? लड़कियों का बीच में स्कूल छोड़ देना क्यों जारी है?

हाल में किया गया शोध दर्शाता है कि कर्नाटक में 30 प्रतिशत से भी अधिक लड़कियों का 18 वर्ष की आयु के पहले विवाह कर दिया जाता है। यह तब हो रहा है जब सरकार तथा नागरिक समाज, दोनों के द्वारा अधिक उम्र में विवाह किए जाने को बढ़ावा देने, बाल विवाह के कारण व्यक्ति, परिवार तथा समाज को होने वाले भारी नुकसानों के प्रति जागरूकता निर्मित करने, बाल सुरक्षा व्यवस्थाओं को बाल सुरक्षा अधिकारियों की नियुक्ति करके, उन्हें प्रशिक्षित करके और संसाधन प्रदान करके सशक्त बनाने तथा बाल विवाह को रोकने के लिए स्थानीय सरकारी निकायों को कानून तथा शक्तियाँ प्रदान की जा रही हैं।

हाल ही में बेंगलूरु शहर में वास्तविक जीवन–गाथा के एक उदाहरण का अध्ययन हमें एक बच्ची के जीवन, उसकी शिक्षा, उसकी स्कूली पढ़ाई, किशोरावस्था और प्रारम्भिक युवावस्था को प्रभावित करने वाली ताकतों को समझने में; तथा लिंग–जनित भेदभाव, यौनिकता, सुरक्षा और सामाजिक रीति–रिवाजों, प्रजनन की भूमिकाओं और घरेलू हिंसा के मुद्दों के प्रति सरकार तथा कानूनी व्यवस्था के दृष्टिकोणों को समझने में हमारी सहायता कर सकता है।

वास्तविक उदाहरण का अध्ययन

तीन वर्ष पहले, 13 साल की गीता प्रोन्नति पाकर 8वीं कक्षा में पहुँची थी। उसे स्कूल बदलना पड़ा और झुग्गी–झोपड़ी बस्ती में अपने घर से लगभग आधा किलोमीटर दूर के स्कूल में जाना पड़ा। वह दुबली–पतली और अपनी उम्र के लिहाज से बहुत लम्बी थी। उस पर एक 19 साल के लड़के की नजर पड़ गई थी जो पड़ोस में रहता था। राजू, जो अब 21 साल का है, 6 साल की उम्र में केवल एक वर्ष स्कूल गया था, परन्तु जब शिक्षक ने उससे गृहकार्य करवाने की ठानकर उसको शारीरिक दण्ड दिया तो वह स्कूल से भाग गया। वह कुछ सालों तक अपने घर के पास दूसरे बच्चों के साथ खेलता रहा। जब वह लगभग 12 साल का था, तब वह पास के एक निर्माण स्थल पर काम करने वाले अपने इलाके के कुछ आदमियों के साथ हो लिया। तो जब गीता अपनी खाने की डलिया और बस्ता लेकर स्कूल के लिए निकलती तब राजू उसका पीछा करता था और उससे बात करने की कोशिश करता था। हालाँकि गीता को डर लगता था कि इस माता–पिता यह देख लेंगे। पर मन ही मन उसे युवा लड़के द्वारा रोज उसकी राह देखे जाने का मजा भी आता था और जब वह अपने सहपाठियों से बात करती थी तो वह लड़का जलता भी था। जल्दी ही लोगों का इस पर ध्यान गया और लोगों ने लड़के के माता–पिता से बात की, "लगता है कि तुम्हारा लड़का गीता को पसन्द करता है। हमें वे स्कूल के पास बात करते हुए दिखाई देते हैं।" ये खबर जल्दी ही लड़की के माता–पिता तक पहुँच गई और उसके नतीजे में जाहिर है कि काफी तमाशा हुआ। गीता की खूब पिटाई हुई। पड़ोसी बीच–बचाव करने दौड़े। बाद में, गीता की माँ उसे स्कूल छोड़ने जाने लगी। लेकिन यह ज्यादा समय तक नहीं चला। वह घरेलू काम करने वाली बाई थी और उसे हर सुबह जल्दी काम पर जाना पड़ता था। कुछ बड़ी–बूढ़ी महिलाओं ने उसे सलाह दी, "उसे स्कूल क्यों भेजती हो, उसकी इस लड़के से शादी कर दो। वह वैसे भी अपनी

उम्र से काफी बड़ी दिखती है और लगता है कि यह लड़का वाकई में उसे चाहता है।" वैसे माँ के इरादे कुछ और थे। खुद उसकी शादी 13 साल की उम्र में कर दी गई थी। वह कभी स्कूल नहीं गई थी, इसलिए वह चाहती थी कि उसकी लड़की शिक्षिका बने। लेकिन पति के शराबी होने के कारण उसे परिवार का खर्चा चलाना पड़ता था, ऊपर से पति शराब पीने के लिए पैसे माँगता था, इसलिए नियमित रूप से काम पर जाने के अलावा उसके पास कोई विकल्प नहीं था। गीता का छोटा भाई अच्छे से पढ़ता था और नियम से स्कूल जाता था। उसकी माँ एक सरकारी सहायता प्राप्त स्कूल में उसकी पढ़ाई का खर्चा भी उठाती थी।

बात खुल जाने से हिम्मत बढ़ जाने के कारण, राजू फिर गीता के साथ रोज स्कूल जाने और आने लगा। जब सत्र का अवकाश आया तो वे रोज नहीं मिल सकते थे। उसने लड़की को सुझाया कि वे भाग जाएँ। अब तक गीता पूरी तरह उसके बहकावे में आ चुकी थी, सो वह राजी हो गई। उसने एक बैग में चोरी से अपने कपड़े भर कर रखे। वह बैग उसकी माँ के हाथ लग गया। फिर क्या था, आसमान टूट पड़ा। गीता के पिता के हाथों दोनों इस बुरी तरह पिटे कि उनको नील पड़ गए। स्थानीय लोगों की राय थी कि चूँकि "लड़की का नाम खराब हो चुका था", और दोनों का प्रेम–प्रसंग सबको मालूम था, इसलिए क्यों न इन दोनों की शादी कर दी जाए? आखिरकार, यह उनके भाग जाने की बदनामी से तो बेहतर ही होगा। इसलिए जल्दी ही एक सादे आयोजन में गीता की राजू से शादी कर दी गई। तब वह लगभग साढ़े 13 साल की थी। कुछ सप्ताह में, वह गर्भवती हो गई और समय आने पर बहुत जोखिम वाली प्रसव प्रक्रिया के बाद उसने एक बड़े सरकारी अस्पताल में एक स्वस्थ बालक को जन्म दिया, जिसकी सारे परिवार में बहुत खुशी मनाई गई।

राजू को बीच–बीच में भवन निर्माण कार्य में मजदूर की तरह काम मिल जाता था। जब बच्चा बड़ा होने लगा, तो माँ होने की परेशानियों के कारण गीता चिड़चिड़ी हो गई। उसे जरा–जरा में रोना आने लगा। वह घर पर कोई घरेलू काम नहीं कर पाती थी और बच्चे को दूध पिलाने और उसकी देखभाल करने में थक जाती थी। हालाँकि उसकी माँ जितना उससे बनता था मदद करती थी, पर वह स्थिति को बिगड़ने से नहीं बचा सकी। तनाव बढ़ते गए। बच्चे के पहले जन्मदिन पर उसकी माँ अभी 16 साल की भी नहीं हुई थी। उसके पति से सम्बन्ध खराब होने लगे और राजू उसको मारने–पीटने लगा। आज के नए जमाने के उलट–फेर में, लड़की भी बराबरी से पिटने का जवाब पीटने से देने लगी।

लड़की की माँ ने मुझे बताया, "मैं अपनी लड़की से बात नहीं कर रही हूँ, उसे अपने पति से बदतमीजी करने की सजा दिए जाने की जरूरत है। वह उसे गालियाँ देती है और यहाँ तक कि जब वह उसे पीटता है तो वह भी उसे पलटकर मारती है!"

मैंने उसे समझाने की कोशिश की कि आज के दौर में किशोर–किशोरियों के सामने कई विपरीत प्रकार की नकल करने वाली छवियाँ होती हैं। गीता की परिस्थिति उसके सम्भालने के वश के बाहर हो गई थी। मैंने उसकी माँ को प्रोत्साहित किया कि वह उसकी ससुराल के लोगों से बात करे कि वे उसे के.जी.बी.वी. में भर्ती होने की इजाजत दे दें। या फिर कम से कम महिला शिक्षण केन्द्र (एम.एस.के.) में शामिल हो जाने दें जिसके पास स्कूली पढाई की व्यवस्था के अलावा अनौपचारिक आवासीय सुविधाएँ भी हैं; यह संस्था जोखिम भरी स्थितियों का सामना कर रही औरतों और लड़कियों के लिए महिला समाख्या कर्नाटक द्वारा संचालित की जाती है। इस सुझाव से माँ अचम्भित दिखाई दे रही थी। वह बोली "लेकिन अब वह शादी–शुदा है। वह घर छोड़ कर स्कूल कैसे जा सकती है?" और यह कहकर उसने इस विचार को खारिज कर दिया। कई महीने गुजर गए। शंकालु राजू ने अपना मालिकाना हक जतलाना जारी रखा। उसकी जिद थी कि गीता घर पर ही रहे, तब भी जब उनके घर में खाने को कुछ नहीं था क्योंकि राजू कई दिनों से काम पर नहीं गया था। एक और विकट लड़ाई के बाद, जिसमें पुलिस को दखल देना पड़ा हालाँकि उन्होंने मामला दर्ज करने से इनकार कर दिया, परिवार इसके लिए सहमत हो गया कि गीता को रोज पैसा दिया जाएगा ताकि घर का चूल्हा जलता रहे और दाना–पानी चलता रहे। कहने की जरूरत नहीं कि यह इंतजाम जल्दी ही टूट गया क्योंकि लड़के के परिवार ने आरोप लगाया कि गीता बहुत खर्चा करती थी।

अन्त में गीता घरेलू काम करने के लिए जाने लगी। वह अपने छोटे बच्चे को साथ ले जाती थी। पर कई बार उसकी माँ को जाकर बच्चे को लाना पड़ता था जो अकसर 'अड़चन' बन जाता था क्योंकि जब उसकी माँ काम कर रही होती थी तब वह उसका ध्यान पाना चाहता

था। इस तरह चीजें चलती रहीं, पर फिर एक दिन उसकी माँ ने आकर अचानक मुझसे पूछा, "अक्का, क्या तुम कृपा करके गीता को उस स्कूल में भेज सकती हो जिसके बारे में तुमने मुझे बताया था? वह वापिस अपनी ससुराल नहीं जाना चाहती, और उसका पति भी कहता है कि वह उसे बुलाना नहीं चाहता। इसलिए मैं उसे दूर भेजना चाहती हूँ ताकि वह फिर से अपनी पढ़ाई शुरू कर सके।"

कुछ समय बाद ही वे दोनों आईं। गीता को पास के नगर में महिला समाख्या की एक संस्था में पढ़ने के लिए भेज दिया गया तथा उसका बेटा अपनी 32 साल की नानी की देखरेख में रहने लगा। गीता साफ कहती है कि वह राजू के शारीरिक और शाब्दिक दुर्व्यवहार, शक करने और मनोवैज्ञानिक हिंसा से तंग आ चुकी है। हालाँकि वह उसे खोज रहा है और गीता को फिर से उसके पास लौटाए जाने की माँग कर रहा है। यदि वह आक्रामक तरीके से उसके पीछे पड़ने का फैसला करता है तो परिस्थिति विस्फोटक हो सकती है, खासतौर से यह देखते हुए कि वह बच्ची अभी भी पास के नगर में ही है।

गीता की निर्बाध स्कूली पढ़ाई के खिलाफ कौन से मुद्दे प्रभावी रहे?

यह स्पष्ट है कि कई ढाँचागत सामाजिक कारकों ने इसमें भूमिका निभाई। पहले तो, स्कूल की भौगोलिक स्थिति को ही लें। घर के निकट हाईस्कूल के न होने के कारण उसे रोज पैदल दूर के स्कूल में जाना पड़ता था जिससे रास्ते में लड़कों द्वारा उसका पीछा किए जाने का भरपूर मौका मौजूद रहता था। यह एक प्रमुख कारण है जिसकी वजह से परिवार अपनी लड़कियों को तरुणाई शुरू होने के बाद स्कूल भेजना बन्द कर देते हैं।

दूसरा कारक सामाजीकरण की वह प्रक्रिया है जो शैशव के समय से ही लड़कियों को, किसी पेशेवर कार्यक्षेत्र के लिए या उच्च शिक्षा के लिए प्रेरित करने के बजाय, शादी के लिए तैयार करती है। माता–पिता के ऊपर लड़की की शादी कर देने का सामाजिक दबाव, शादी के समय लड़की का कौमार्य सुरक्षित रहने को अत्यधिक महत्त्व दिया जाना, और उसके इलाके में यौनिक शोषण से लड़की की सुरक्षा का अभाव, ये सब भी लड़कियों के स्कूल छोड़ देने और उनकी जल्दी शादी कर दिए जाने के अन्य बड़े कारण हैं। गरीब, अनुसूचित जाति,अनुसूचित जनजाति या अल्पसंख्यक परिवारों की लड़कियों को इसका ज्यादा जोखिम रहता है क्योंकि उन्हें सताने वालों को पुलिस की ओर से किसी कार्यवाही का डर नहीं रहता। इन वर्गों के लोगों द्वारा शिकायतें किए जाने पर पुलिस कोई कार्यवाही नहीं करती। इस परिस्थिति में कोई और विकल्प न होने की वजह से ऐसे परिवार अपनी लड़कियों को घर पर रखते हैं और उन्हें घरेलू कामकाज के लिए तैयार करते हैं।

युवा पुरुषों को लगता है कि यदि कोई लड़की, खासतौर से ज्यादा गरीब तबकों की लड़की, उन्हें अच्छी लगती है, तो आक्रामक ढंग से उसके पीछे पड़ना उनका विशेषाधिकार है। युवकों के ऐसे आचरण पर कमजोर नियंत्रण रखने के द्वारा उनके परिवार ऐसे व्यवहार को मौन समर्थन देते हैं, और इसको जल्दी शादी करने को प्रोत्साहित करने के लिए एक बहाने की तरह इस्तेमाल करते हैं, भले ही लड़का–लड़की नाबालिग हों। इस रवैए को लोकप्रिय कन्नड़ और तेलुगु फिल्मों से शह मिलती है जिनमें उनके 'नायकों' को ऐसे युवा/किशोर लड़कों की तरह चित्रित किया जाता है जो स्कूल/कालेज आती–जाती लड़कियों से जबरन 'प्रेम जताते' हैं, और उनका ध्यान आकर्षित करने के लिए अकसर जोर–जबर्दस्ती या भयादोहन (ब्लैकमेल) का सफलता पूर्वक इस्तेमाल करते हैं। अकसर, इन पुरुषों को या तो कम पढ़े–लिखे लोगों की तरह या कामगार वर्ग का होने के रूप में दिखाया जाता है, जो ऐसी कहानियों को उनके लक्ष्य पुरुष दर्शकों की वास्तविक जिन्दगी के अनुभवों के नजदीक ले आता है। समाज के मौजूदा मानकों और प्रचलनों के चलते, इन पुरुष दर्शकों की अपने से ऊपर के दर्जे दृ चाहे वह बेहतर शैक्षणिक उपलब्धियों के रूप में ही हो – की किसी लड़की पर डोरे डालने और उसे हासिल कर लेने की कल्पनाएँ उनके वास्तविक जीवन के अनुभव बन जाती हैं।

इस मामले में तो 'पुरुष' भी शादी के समय मुश्किल से 20 साल का ही था। बाल विवाह पर रोक लगाने के कानून तथा उसके खिलाफ टीवी पर, स्कूलों में और स्वैच्छिक संगठनों द्वारा चलाए जा रहे अभियानों के बावजूद, यह चलन लगभग बेरोकटोक जारी है, विशेष रूप से उत्तर कर्नाटक में, जहाँ इसे समाज का मजबूत अनुमोदन और समर्थन प्राप्त है। इस प्रथा के खिलाफ कमजोर प्रचार–प्रसार और राजनैतिक इच्छाशक्ति के अभाव में इस कानून को बेअसर तरीके से लागू किए जाने को देखते

हुए, सरकार को उसकी जिम्मेदारी से बरी नहीं किया जा सकता। लोगों को इस बात की बहुत कम जानकारी है कि जल्दी शादी करना कानूनन अवैध है और इसे करवाने वालों को दण्ड दिया जा सकता है। अधिकारी अकसर इस डर से कोई कार्यवाही नहीं करते कि उससे समुदाय में आक्रोश पूर्ण प्रतिक्रिया होगी या फिर इसलिए कि वे स्वयं बाल विवाहों को रोकने में यकीन नहीं रखते।

इस प्रकार गरीबी, लिंगजनित भेदभाव, लागू न किए जाने वाले कानूनी ढाँचे, समुदाय के मानक जिनमें (लिंग भेदभाव से पैदा हुआ) मर्दाना व्यवहार भी शामिल है, असुरक्षित आमदनियाँ, और सबसे ज्यादा, यह व्यापक रूप से प्रचलित धारणा कि लड़कियों/औरतों के लिए घर का दायरा ही उनकी अपरिहार्य और अनिवार्य नियति है, ये सब मिलकर इस प्रथा को चलाए रखते हैं, जबकि इस धारणा को बदलने की दिशा में होने वाली प्रगति बहुत धीमी है।

.यदि परिवार के बहुत सीमित संसाधनों का बच्ची की शिक्षा के लिए उपयोग किया भी जाता है, तो भी इस बात की गारण्टी नहीं होती कि उपयुक्त शिक्षा के परिणामस्वरूप समाज के कमजोर वर्गों के लोगों को अच्छी और उचित नौकरी मिल जाएगी। यहाँ तक कि गरीबों में स्नातक की उपाधि पाए हुए पुरुष भी भवन निर्माण या परिवहन क्षेत्रों में अस्थायी शारीरिक मजदूरों की तरह काम करते हुए देखे जाते हैं। महिलाएँ सेवा के क्षेत्र में निम्न स्तर की नौकरियाँ करती हुई पाई जाती है। इसका एक प्रमुख कारण वंचित पृष्ठभूमियों से आए लोगों को सफेद–कालर वाली (दफ्तरी) नौकरियाँ देने के प्रति रोजगार देने वालों का नकारात्मक रुख होता है, जबकि घूस और भ्रष्टाचार का व्यापक चलन उनके लिए सरकारी नौकरियाँ हासिल कर पाना असम्भव बना देता है। इसलिए उपरोक्त वर्गों के परिवार आमतौर पर शिक्षा पर, विशेष रूप से उच्च शिक्षा पर, और खासतौर से लड़कियों की शिक्षा पर, धन खर्च करने में हिचकिचाते हैं।

हम सब जानते हैं कि लड़कियों को शिक्षित बनाने से – कम उम्र में लड़कियों को गर्भवती होने से बचाने के फलस्वरूप उससे जुड़ी स्वास्थ्य की समस्याओं और जिन्दगी के जोखिम को टालने, उनकी साक्षरता और नागरिकता के अधिकारों की रक्षा, उनकी भावनात्मक तथा मनोवैज्ञानिक परिपक्वता के लिए अवसर मिलने और, सबसे महत्त्वपूर्ण, शिक्षा और जानकारी पर आधारित भागीदारी के माध्यम से बदलते हुए सामाजिक तथा आर्थिक परिवेश में अपना रास्ता बनाने के लिए आवश्यक ज्ञान और कौशलों को हासिल करने, इन सभी दृष्टियों से – समाज के स्तर पर बहुत सामाजिक–आर्थिक लाभ होता है। इस सच्चाई के परिप्रेक्ष्य में संस्थाएँ तथा परिवार वास्तविकता को बदलने के लिए और क्या कर सकते हैं? जो सरकारें और परिवार बच्चों, और खास तौर पर बच्चियों, की शिक्षा पर खर्च कर रहे हैं, वे भविष्य में निवेश कर रहे हैं। फिर ये उपलब्धियाँ हासिल करना इतना कठिन क्यों है? भारतीय समाज में गहरे तक पैठे पितृसत्तात्मक मूल्य और स्त्रियों के प्रति हिकारत का बढ़ता प्रभाव – जिसके साथ नव–उदारीकरण की नीतियाँ जुड़ गई हैं, जिनके कारण संचार माध्यमों का प्रभाव सब दूर दिखाई देता है – आचरण की पारम्परिक प्रवृत्तियों का टूट जाना, और राज्य का सामाजिक क्षेत्र से हट जाना, ये सभी इस समस्या के हिस्से हैं। शिक्षा नीतियों पर पुनर्विचार करना, बाल विवाह रोकने के लिए कम उम्र की लड़कियों के हित में बनाए गए सुरक्षा अधिनियमों को ज्यादा सख्ती से लागू किया जाना तथा लिंगजनित भेदभाव वाले पारिवारिक मानकों के प्रति और अधिक सार्वजनिक चेतना जगाना, ये उपाय ही आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त करेंगे।

सिन्थिया स्टीफेन एक सक्रिय रूप से भाग लेने वाली शोधकर्ता हैं जो लिंगभेद, गरीबी, समावेश तथा विकास नीति के मुद्दों पर काम कर रही हैं। वे इन मामलों में राज्य, क्षेत्र तथा राष्ट्रीय स्तर पर नेतृत्व तथा परामर्शदाता की भूमिकाओं में संलग्न रही हैं। उन्होंने इन विषयों पर विस्तार से लेखन भी किया है। उनसे cynstepin@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है।
अनुवाद : सत्येन्द्र त्रिपाठी

सामाजिक समावेश और बहिष्करण: मेरे अनुभव

दीपिका के. सिंह

मैं एक ऐसे स्कूल में विद्यार्थी होने के अपने अनुभव बाँट रही हूँ जो मुख्यतः मध्यमवर्गीय पड़ोस की जरूरतों को पूरा करता था। जिसके अधिकांश विद्यार्थियों के माता–पिता एक से उद्यम में लेकिन अलग–अलग भूमिकाओं में लगे होते थे, झाड़ू लगाने से लेकर किसी विभाग के निदेशक तक।

मुझे याद है कि मैं आठवीं कक्षा में थी। गणित की कक्षा थी, हमारी शिक्षिका हमें पढ़ा रही थीं। कार्यालय में काम करने वाला लड़का कक्षा में आया और उसने शिक्षिका को एक कागज दिया। शिक्षिका बोलीं, "मैं जिन बच्चों के नाम पुकारूँगी उन्हें अपनी छात्रवृत्ति लेना है।" उन्होंने कुछ नाम पढ़े और फिर एक और नाम लिया, यह नाम एक होशियार लड़की का था। वह हमेशा पहले तीन स्थानों में आती थी और शिक्षिका उसे पसन्द करती थीं। शिक्षिका उसके कपड़े पहनने के ढंग पर भी टिप्पणी करती थीं। यदि वह टी–शर्ट पहनती थी तो शिक्षिका उससे कहती थीं कि "अच्छी लड़कियों" को ऐसे कपड़े नहीं पहनना चाहिए। उन्होंने उस सूची से उस लड़की का नाम पढ़ा, लड़की अपनी बैंच से उछलकर खड़ी हो गई, लेकिन शिक्षिका बोलीं "ओह! तुम अनुसूचित जाति से हो, छी छी।"

मुझे वह "छी छी" अभी भी याद है। यह जाति व्यवस्था से मेरा पहला परिचय था और मुझे समझ में आ गया था कि अनुसूचित जाति से होने में कुछ गड़बड़ी जरूर थी इसीलिए शिक्षिका ने वह टिप्पणी की थी। लेकिन उसके बारे में कुछ अच्छा भी था जिसकी वजह से ऐसे विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति मिलती थी। शिक्षिका द्वारा अपमानित की गई मेरी उस दोस्त के लिए वह वाकई बहुत कटु अनुभव रहा होगा।

दूसरा अनुभव जो मुझे याद है, जब मेरे एक मित्र का एक अन्य सहपाठी के साथ झगड़ा हो गया था, तो मेरे दोस्त ने उसे 'एबीसी' कहा था। मैंने उससे पूछा कि यह एबीसी का क्या मतलब था, तो उसने मुझे समझाया कि उसका मतलब था 'ए, बीसी मतलब बैकवर्ड क्लास (पिछड़ी जाति)।' तब हम कक्षा 8 या 9 में थे।

ये अनुभव स्कूल में एक खास समूह के बच्चों के साथ होने वाले भेदभाव और उससे भी अधिक उन्हें कलंकित करने से जुड़े मुद्दों की तरफ इशारा करते हैं। ये साथ ही कुछ खास तरह की रूढ़िवादी बातों और 'छवियों' (जैसे इस मामले में एक 'अच्छी लड़की' की छवि) को सामान्यतः का रूप देने और उन्हें और मजबूती प्रदान करने में स्कूल की भूमिका को भी उजागर करते हैं। ये घटनाएँ किसी स्कूल में विद्यार्थियों और शिक्षकों के बीच तथा विद्यार्थियों के बीच आपस में रोज होने वाले भेदभाव से भरे व्यवहार की तरफ भी इशारा करती हैं। हालाँकि एक मध्यमवर्गीय लड़की शिक्षा हासिल करने और स्कूल जाने में सफल रहती है लेकिन उसे लिंग–आधारित रूढ़िवादी धारणाओं तथा जातिगत भेदभाव का सामना करना पड़ता है।

लेकिन, मुझे यह भी याद है कि किस तरह कुछ शिक्षकों और एक नई प्राचार्य ने विद्यार्थियों के बीच खड़ी कर दी गई 'दीवारों' को गिराने की तथा अलग–अलग बच्चों पर लगा दिए ठप्पों को हटाने की कोशिश की थी। जब मैं माध्यमिक स्कूल में थी तो हमारी कक्षा में दो अलग–अलग समूह थे। एक समूह उन विद्यार्थियों का था जो शारीरिक रूप से ताकतवर दिखते थे और खेलों में अच्छा करते थे। दूसरा समूह था जो शारीरिक रूप से उतने शक्तिशाली नहीं दिखते थे, लेकिन पढ़ाई में अच्छे थे। ये दो बिलकुल स्पष्ट समूह थे।

ये दीवारें उपलब्धियों और शिक्षकों की पसन्द के कारण खड़ी हुई थीं। शारीरिक शिक्षा के शिक्षक शारीरिक रूप से सशक्त विद्यार्थियों को पसन्द करते थे और चाहते थे कि वे विभिन्न दलों का नेतृत्व करें। इस समूह के अधिकांश विद्यार्थियों ने स्कूल के लिए बहुत से पुरस्कार भी जीते। वहीं दूसरे समूह के विद्यार्थी इस बात का विरोध करते थे कि उन्हें टीमों का नेतृत्व नहीं सौंपा जाता था। पर जब

बात भाषा, गणित और विज्ञान की आती थी, तो शिक्षक कक्षा में होने वाली चर्चाओं में उन विद्यार्थियों को मौका देते थे जो परीक्षाओं में अच्छे अंक लाते थे, जो अपने विचारों को स्पष्ट ढंग से सामने रख पाते थे, जिनकी अँग्रेजी अच्छी थी और जिनके पास कभी–कभी उन प्रश्नों के भी उत्तर होते थे जो हमारी पाठ्यपुस्तकों से बाहर के होते थे।

मुझे 9वीं कक्षा की अपनी मौखिक परीक्षा याद है, जब शिक्षिका ने मुझसे पूछा था कि 'दूध का रंग सफेद क्यों होता है?' और मैंने कहा था 'उसमें पाए जाने वाले प्रोटीन अवयव के कारण'। शिक्षिका बहुत जोर से हँसीं और मुझे एहसास हुआ कि मेरा उत्तर गलत था, लेकिन उन्होंने हमें 'सही' उत्तर नहीं बताया। एक 'वैज्ञानिक तथ्य' होने के चलते इसका एक ही सही उत्तर हो सकता था और शिक्षिका के लिए किसी विद्यार्थी द्वारा यहाँ 'व्यवहारिक बुद्धि' लगाने सम्बन्धी समझ की पड़ताल करने की कोई गुंजाइश नहीं थी। न ही वे ऐसा उत्तर देने के कारण को जानने की इच्छुक थीं। परीक्षा के अन्त में शिक्षिका ने एक लड़के की तारीफ की, क्योंकि उनके अनुसार वह विज्ञान के अपने ज्ञान की बदौलत हमेशा प्रथम स्थान पाता था। उनकी नजर में वह अकेला विद्यार्थी था जिसे पता होता था कि प्रयोगशाला में किसी उपकरण विशेष का प्रयोग किस ढंग से करना था। हममें से अनेक बच्चे इस सोच में पड़ गए कि शिक्षिका ने हमसे उस उपकरण का इस्तेमाल कभी कराया ही नहीं और वे अपेक्षा करती थीं कि हमें यह पता होना चाहिए कि वह उपकरण ऐसे क्यों काम करता है।

मैं इस अनुभव को उस पूरी व्यवस्था से जोड़कर देखती हूँ जिसके माध्यम से स्कूलों को विद्यार्थियों की छंटनी करने के लिए तैयार किया जाता है। शिक्षिका ने भी प्रश्नों को एक खास ढंग से तैयार करके यही सुनिश्चित किया कि सिर्फ कुछ बच्चे इसका जवाब दे सकेंगे। क्योंकि उन्हें यह भली–भाँति पता था कि स्कूल में प्रयोगशाला के उपकरण अभी–अभी आए थे और माध्यमिक स्कूल के लिए पुस्तकालय तैयार किया जा रहा था। इसलिए पाठ्यपुस्तक से हटकर किसी भी तरह की जानकारी तभी हासिल की जा सकती थी जब विद्यार्थियों के माता–पिता को इस तरह का ज्ञान हासिल होता और वे अपने बच्चे को बता सकते या फिर बच्चे के पास घर में सम्बन्धित स्रोत सामग्री होती, या वे ट्यूशनों के माध्यम से अतिरिक्त पढ़ाई कर रहे होते।

यह बात हमें श्रमजीवी वर्ग के बच्चों और 'संभ्रान्त' वर्ग के बच्चों के मुद्दे पर ले जाती है कि किस तरह स्कूल 'संभ्रान्त वर्गों' को फायदा पहुँचाते हैं। कुछ और भी मौके थे जहाँ अँग्रेजी की शिक्षिका ने शारीरिक रूप से सशक्त समूह से एक विद्यार्थी को चुना, और शैक्षणिक समूह से एक विद्यार्थी को। उन्होंने पहले 'सशक्त' विद्यार्थी से सवाल पूछा, और जब उसने जवाब दिया तो वे हँसने लगीं और बोलीं, 'देखो, यह है इसकी जानकारी'। शिक्षिका को पता था कि वह विद्यार्थी उत्तर नहीं दे पाएगा। जब वे उस विद्यार्थी का मजाक उड़ा रही थीं तो हममें से कुछ लोग सोच रहे थे कि सही जवाब क्या हो सकता था, और किसी ने उस दूसरे विद्यार्थी को उत्तर सुझा दिया जिसने फिर सही उत्तर दे दिया। वास्तविकता यह थी कि इस मामले में दोनों ही विद्यार्थियों को उत्तर नहीं पता था, लेकिन एक के पास उत्तर को सही करने का तथा साथियों से सहयोग लेने का मौका था जबकि दूसरे विद्यार्थी के साथ ऐसा कुछ भी नहीं था।

यह घटना कई मुद्दों को उठाती है, जिसका सम्बन्ध न सिर्फ विद्यार्थियों पर कुछ निश्चित ठप्पे लगा दिए जाने के बारे में, बल्कि किसी विद्यार्थी का मजाक उड़ाने और उसके आत्मसम्मान और आत्मविश्वास को चोट पहुँचाने से भी है। ये घटनाएँ इन मुद्दों को भी उठाती हैं कि संसाधनों की 'पूँजी' तक विद्यार्थियों की पहुँच किस तरह होती है। किस तरह स्कूल एक खास प्रकार के ज्ञान को बढ़ावा देता है, और किस ढंग से उस ज्ञान का इस्तेमाल कुछ बच्चों को अपमानित करने तथा ऊँच–नीच के वर्ग बनाने के उपकरण के रूप में करता है। ये घटनाएँ ये भी दिखाती हैं कि बच्चे एक–दूसरे की मदद किस प्रकार करते हैं। इस तरह की घटनाएँ निश्चित रूप से कक्षा के भीतर कई बच्चों को अपमानित होने के डर से मौन बना सकती हैं। इसलिए, जहाँ शिक्षा का उद्देश्य दमित लोगों को आवाज देना होना चाहिए वहीं हकीकत में यह उन्हें और मूक बना देती है।

हालाँकि हमारे कुछ शिक्षकों ने उन लोगों की भागीदारी सुनिश्चित जरूर की जिन पर 'पीछे बैठने वाले या मूर्ख' का ठप्पा लगा दिया गया था। शिक्षक ने कक्षा में किए जाने वाले कार्य के दौरान उनके साथ कुछ समय बिताना, उनकी कॉपियाँ जाँचना भी शुरू किया; ये वे कक्षाएँ होती थीं जिनमें हम सभी भागीदारी करते थे। हमारे नए प्राचार्य ने पहले से चले आ रहे ठप्पों को हटाने की कोशिश की। सभी बच्चों का स्कूल के सभी कार्यक्रमों में भाग लेना अनिवार्य कर दिया गया। उन्होंने सुनिश्चित किया कि वे बच्चे जिन्होंने कभी किसी वाद–विवाद में भाग नहीं लिया था, उन्हें इसकी तैयारी करने के लिए शिक्षकों का सहयोग

मिले, उन्होंने खुद भी इसके लिए समय दिया। वे बच्चे जिन्होंने कभी टीमों का नेतृत्व नहीं किया था, उन्हें टीमों का कप्तान बनाया गया, इनमें से कुछ समूह जीते भी। मुझे याद है कि कुछ विद्यार्थियों के बारे में मेरे जो विचार थे, वे जरूर बदले, मैं यह नहीं कह सकती कि शिक्षकों ने जो ठप्पे लगा दिए थे, उन्हें (उनके दिमागों में) चुनौती मिली कि नहीं।

इन अनुभवों के माध्यम से सांस्कृतिक पूँजी के विचार को भी उठाया जा सकता है क्योंकि एक खास वर्ग या विद्यार्थियों के पास दूसरे विद्यार्थियों की तुलना में सांस्कृतिक लाभ हासिल था। इसे भाषा, उन्हें मिलने वाले मौकों, माता–पिता के सहयोग, ज्ञान के स्रोतों तक पहुँच जिसकी स्कूल में सराहना की जाती थी, और व्यवहार के स्कूल में सराहे जाने वाले तौर–तरीकों, के सन्दर्भ में देखा जा सकता था। यह अनुभव समावेशी संस्कृति के विकास में शिक्षकों और प्राचार्य की भूमिका को सामने लाता है।

एक और घटना मुझे याद आती है, जब हमारे प्राचार्य हमें वाणिज्य का विषय पढ़ा रहे थे, उन्होंने पूछा 'शेयर क्या होते हैं'। मेरे पिता मुझे छोटी उम्र से ही न सिर्फ स्कूटर सुधारने के काम में अपने साथ रखते थे, बल्कि शेयरों के आवेदन पत्र भी भरवाते थे और मैं उस मौके का उपयोग आवेदन पत्र पर छोटे अक्षरों में लिखी बातों को पढ़ने में करती थी। प्राचार्य के इस सवाल के जवाब में मैंने उस पूरी प्रक्रिया को ही समझा दिया कि कम्पनियाँ किस प्रकार शेयर जारी करती हैं, आवेदन पत्र कैसे भरे जाते हैं, कम्पनी को पैसे कैसे दिए जाते हैं और फिर बाद में लाभ को कैसे बाँटा जाता है। मेरा एक सहपाठी, जो 'होशियार' वर्ग से था, चिल्लाया कि यह सही उत्तर नहीं था, सही उत्तर उसे पता था। शिक्षक (प्राचार्य) ने दोनों उत्तर सुने और बोले कि एक उत्तर पाठ्यपुस्तक से था और दूसरा ज्यादा व्यावहारिक था। पहली बार मुझे लगा कि पिताजी के साथ मैं जो काम करवाती थी, वह मेरी स्कूली शिक्षा में भी कुछ प्रासंगिकता रखता था। हालाँकि यह घटना शारीरिक श्रम से जुड़ी हुई नहीं है पर इसे बच्चों के काम को शिक्षा से, विद्यार्थियों के अनुभव से और पढ़ाई में की जाने वाली मेहनत से जोड़कर देखने के मुद्दे से जुड़ा माना जा सकता है। इस मामले में, दोनों ही उत्तर सही थे, शिक्षक ने दोनों उत्तरों को स्वीकार किया और इसका कारण भी समझाया। इसके अलावा उन्होंने एक उत्तर को दूसरे से श्रेष्ठ या कमतर भी नहीं बताया।

स्कूल में कुछ ऐसी गतिविधियाँ जरूर होती थीं जिन्हें 'समावेशी' माना जा सकता था। यह स्कूल एक स्टेट बोर्ड स्कूल था लेकिन ज्ञान की देवी का आह्वान करने के लिए हमारे स्कूल में 'सरस्वती वन्दना' के बजाय हम दिन के अन्त में अलग–अलग गीत गाते थे, जिसके बाद राष्ट्रगान होता था। हर शनिवार को अलग–अलग धर्मों जैसे जैन धर्म, बौद्ध धर्म, सिक्ख धर्म, इस्लाम, ईसाई धर्म की प्रार्थनाएँ गाई जाती थीं। हम सब अपने हाथ जोड़ते थे, अपनी हथेलियाँ खोलकर भी प्रार्थना करते थे और क्रॉस बनाने की भी कोशिश करते थे। मुझे इस दिन का इन्तजार रहता था और मुझे अपनी स्कूल डायरी में से इन प्रार्थनाओं को पढ़ना बहुत अच्छा लगता था।

वर्तमान परिदृश्य में जब पाठ्यक्रम के भगवाकरण के मुद्दे उठाए जाते हैं, सरकारी स्कूल जो सार्वजनिक संस्थाएँ होते हैं, वहाँ सरस्वती की प्रतिमाएँ लगी होती हैं और उनकी प्रार्थनाएँ होती हैं, जबकि भारत के संविधान के अनुसार स्कूलों को धर्मनिरपेक्ष होना चाहिए और उसे किसी धर्म को बढ़ावा नहीं देना चाहिए। 1990 के दशक में जिस स्कूल में मैं पढ़ी वह या तो उस समय की सामाजिक–राजनैतिक दशाओं को प्रतिबिम्बित करता है या वह पथभ्रष्टता की स्थिति को दिखाता है क्योंकि वह एक प्राइवेट स्कूल था और वहाँ आसानी से 'बहुसंख्यावाद' को बढ़ावा दिया जा सकता था, लेकिन हमारा स्कूल इसके उलट चला।

हम सभी बहिष्करण और भेदभाव के अनुभवों को याद कर सकते हैं, भले ही हम ऐसे स्कूलों में न पढ़े हों जो किसी खास वर्ग की जरूरतों का ध्यान रखता हो क्योंकि भेदभाव और बहिष्करण वर्ग, जाति, धर्म, लिंग, ग्रामीण–शहरी अन्तर, या आदिवासी–गैर आदिवासी संस्कृति जैसी पहचानों पर आधारित होता है। बल्कि ऐसी घटनाएँ जो पूरी तरह से शैक्षिक आधार पर किए गए भेदभाव की लगें, उनका गहरा जुड़ाव ज्ञान, शिक्षण, और मूल्यांकन के उस प्रकार से होता है जो पाठ्यक्रम व स्कूल स्वीकार करता है और जो किसी खास समूह के पक्ष में होते हैं। पर हमारे ऐसे अनुभव भी हैं जो 'सकारात्मक' हैं जहाँ हमने शिक्षकों की प्रेमपूर्ण भावनाओं और चिन्ताओं को महसूस किया। जहाँ हमें लगा कि हम सभी को भागीदारी का मौका मिल रहा था, सभी को उस मौके का फायदा उठाने के लिए सहयोग मिल रहा था, विविधता को न केवल सहन किया जा रहा था, बल्कि कई तरीकों से उसका उत्सव मनाया जा रहा था, ऊँच–नीच के वर्गों को चुनौती दी गई थी और भेदभाव के विरुद्ध आवाजें उठाई गई थीं।

उसी स्कूल ने, जहाँ मुझे कई बार अपमानित महसूस होना पड़ा, कई बार भेदभाव का शिकार होना पड़ा, कभी–कभी सबमें शामिल किए जाने का एहसास हुआ, कभी–कभी गर्व का अनुभव भी हुआ और कभी–कभी उपलब्धि जैसा एहसास भी हुआ। मुझे टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज जैसी संस्था से डॉक्टरेट की पढ़ाई करने के लिए तैयार किया। क्या स्कूल ने वर्ग, जाति, धर्म, लिंग पर आधारित ऊँच–नीच के क्रम और धार्मिक भेदभाव के प्रतिरूप को स्कूल के अन्दर दोहराने में अपनी भूमिका निभाई या क्या उसने ऊँच–नीच और भेदभाव की कुछ दीवारों को चुनौती देने में मेरी मदद की? या मुझे अपने आपको समाज के उन उभरते शहरी मध्यम वर्ग के लोगों में से एक मानना चाहिए जिन्हें शिक्षा के प्रसार से बहुत लाभ हुआ? स्कूल ने जरूर विद्यार्थियों को वरीयताएँ देकर पृथक किया–वे लोग जो औद्योगिक प्रशिक्षण की तरफ चले गए और वे जो आगे की पढ़ाई जारी रख सकते थे और इस प्रकार सामाजिक ऊँच–नीच के क्रमों को शैक्षिक ऊँच–नीच के क्रमों में बदल दिया गया। वेलस्कर (2005)। हम कई ऐसे सवाल उठा सकते हैं और परिवार की आकांक्षाओं, स्कूल के कामकाज के तरीकों और विभिन्न सामाजिक समूहों की शिक्षा को प्रभावित करने वाली वृहत सामाजिक–राजनैतिक दशाओं के मेल से जुड़ी बातें भी उठा सकते हैं। मैं इस लेख को वहीं खत्म करना चाहूँगी जहाँ से मैंने शुरुआत की थी – वह लड़की जिसे शिक्षिका ने उसकी जातिगत पहचान की वजह से अपमानित किया था, उसने पोस्ट ग्रेजुएशन किया और फिर एक सफेदपोश नौकरी हासिल की। उसके लिए और मुझ जैसे कई लोगों के लिए इस व्यवस्था ने उच्च शिक्षा में दाखिला लेने और श्रम बाजार में घुसने के मौके और गुंजाइश जरूर उपलब्ध कराई, भले ही हममें से कुछ लोग अपने परिवारों में मैट्रिक से आगे पढ़ने वाले पहले लोग थे। मैं शिक्षा की और अपने स्कूल की भूमिका को अनदेखा नहीं कर सकती, भले ही मैं उभरते शहरी मध्यम वर्ग की लड़की ही क्यों न थी लेकिन इससे मुझे पितृसत्तात्मक सोच, जाति और वर्ग के ढाँचों को चुनौती देने का मौका और गुंजाइश मिली।

मैं अपनी पीएच.डी के शोध निबन्ध, जिसका शीर्षक था, 'स्कूलों में सामाजिक समावेशनः विद्यार्थियों, शिक्षकों और माता–पिता के अनुभव', की निरीक्षक प्रोफेसर नन्दिनी मांजरेकर को धन्यवाद देती हूँ। उन्हीं के सुझाव पर मैंने अपने स्कूली अनुभवों के बारे में चिन्तन किया और उन्हें कलमबद्ध किया।

Bibliography

1. Benjamin, S., Nind, M., Hall, K., Collins, J., & Sheehy, K. (2003). Moments of inclusion and exclusion: pupils negotiating classroom contexts. British Journal of Sociology of Education, 24(5), 547-558.
2. Freire, Paulo. Pedagogy of the oppressed. Penguin Books.1996.
3. Sarup, Madan. Marxism and Education. Routledge and Kegan Paul Ltd, 1978.
4. Velaskar, P. (2005). Educational Stratification, Dominant Ideology and the Reproduction of Disadvantage in India. Understanding Indian Society: The Non-Brahmanic Perspective. New Delhi: Rawat Publications, 196-220.
5. Velaskar, Padma. "Unequal Schooling as a factor in the Reproduction of Social Inequality in India." Sociological Bulletin 39.1 (1990): 131-45.
6. Grioux, Henry A. Theory and Resistance in Education: A Pedagogy for the Opposition. Bergin & Garvey Publishers, Inc. 1983.
7. Manjrekar, Nandini. “Contemporary Challenges to Women’s Education Towards and Elusive Goal” Economic and Political Weekly. Vol Oct 23, 2003
8. Pierre Bourdieu. The Forms of Capital. http://www.marxists.org/reference/subject/philosophy/works/fr/bourdieu-forms-capital.htm accessed on 17/4/2014.

दीपिका के. सिंह ने करीब ग्यारह वर्षों तक प्राथमिक शिक्षा के मुद्दे पर काम किया है। उनका लक्ष्य रहा है सरकारी स्कूलों का स्तर सुधारना तथा शान्ति को बढ़ावा देने और संघर्षों से मुक्ति पाने के माध्यम के रूप में शिक्षा का उपयोग करना। वर्तमान में वे टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइंसेज, मुम्बई में शोध अध्येता के रूप में कार्यरत हैं। उनसे mswdeepika@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : भरत त्रिपाठी

हाशिए पर रहने वाले बच्चों को 'हाशियाबन्दी' पढ़ाना

फ़राह फ़ारूक़ी

मैं पुरानी दिल्ली में स्थित सरकार द्वारा सहायता प्राप्त एक अल्पसंख्यक स्कूल की प्रबन्धक हूँ। स्कूल की प्राथमिक और उच्च कक्षाओं में साठ फीसदी से ज्यादा बच्चे सामाजिक–आर्थिक तथा सांस्कृतिक रूप से वंचित पृष्ठभूमि से हैं। लर्निंग कर्व के सम्पादकों ने मुझसे एक लेख लिखने की गुजारिश की थी क्योंकि इस स्कूली समुदाय की सदस्य होने के नाते, मैं बहिष्करण और समावेशन के मुद्दों पर गहराई से विचार करती आई हूँ। मैं हमारे बच्चों की वंचित और दोयम दर्जे की जिन्दगियों के बारे में लिख सकती थी। लेकिन, चूँकि, इस पत्रिका के कई पाठक पेशेवर शिक्षक हैं, मुझे लगा कि मैंने नवम्बर 2012 में स्कूल में सामाजिक विज्ञान की जो कुछ कक्षाएँ ली थीं, उनके बारे में अपने विचार बाँटने चाहिए।

सम्बन्धित विद्यार्थी आठवीं कक्षा के थे और विषय था, 'हाशियाबन्दी' (Marginalisation), ऐसा विषय जो स्कूल के निर्धारित एन.सी.ई.आर.टी./सी.बी.एस.ई. पाठ्यक्रम का हिस्सा है। हमने कक्षा आठ की पाठ्यपुस्तक सामाजिक और राजनैतिक जीवन के अध्याय 'हाशियाबन्दी को समझना' (नई दिल्ली, एन.सी.ई.आर.टी. 2008) को बुनियादी सूत्र के रूप में इस्तेमाल किया। मेरे और बच्चों के बीच बातों–विचारों के जिस आदान–प्रदान का मैं वर्णन कर रही हूँ वह हिन्दी–हिन्दुस्तानी–उर्दू में हुआ था। शिक्षाशास्त्र के प्राध्यापक के रूप में मेरा उच्च शिक्षा से लगातार वास्ता पड़ता रहता है, लेकिन पेशेवर शिक्षक के रूप में स्कूली शिक्षा से विरले ही वास्ता पड़ता है। यहाँ उल्लिखित छोटे से अनुभव ने दिल्ली के एक मिडिल स्कूल में हाशिए पर रहने वाले बच्चों को हाशियाबन्दी पढ़ाने से जुड़ी दुविधाओं को मेरे सामने ला दिया। मैं इन्हें आपके साथ बाँट रही हूँ।

इन बच्चों के साथ बिताए गए समय के बाद मेरे दिमाग में कई सवाल घूमने लगे। क्या यह अध्याय हाशिए पर रह रहे लोगों को अन्य वर्गों, समूहों और समुदायों की तुलना में अपनी स्थिति को बेहतर ढंग से समझने में मदद करेगा? क्या यह उन्हें अपनी जिन्दगियों में सुधार करने के सम्भावित उपायों के बारे में सोचने के लिए प्रेरित करेगा? या इसके उलट, सामाजिक ढाँचों (और उनकी सहायक संस्थाओं) के षड़यंत्र को पहचानने के बाद क्या उनकी प्रगति में और बाधा पहुँचेगी? क्या इसे पढ़कर वह सहम जाएँगे और खामोश हो जाएँगे और यथास्थिति को स्वीकार करते हुए अपनी स्थिति में बदलाव लाने के लिए जरूरी प्रयास नहीं करेंगे? इसके अलावा, चूँकि हम सबकी बहुत–सी पहचानें होती हैं, किसी समाज में हाशिए कई प्रकार के हो सकते हैं जैसे वर्ग, जाति, लिंग, भाषा, धर्म इत्यादि। इस विषय को पढ़ाते हुए हमें एक–दूसरे पर चढ़ती पहचानों और उसके चलते सामने आने वाली और अधिक प्रतिकूल स्थिति के सवाल पर भी विचार करना होगा, पर साथ ही एक–दूसरे को काटती पहचानों की भी बात करना होगी। मैं इस लेख के अन्त में इस विषय पर वापस आऊँगी।

कक्षा के सभी बच्चे अल्पसंख्यक मुस्लिम पृष्ठभूमि के थे और ये यूपी, बिहार और राजस्थान से आए कुशल और अर्धकुशल श्रमिकों के प्रवासी परिवारों से थे। बीस बच्चों में से सिर्फ छह लड़कियाँ थीं। कम से कम पन्द्रह लड़के ऐसे थे जो छोटे कारखानों में काम करके अपने परिवार की आय में योगदान करते थे। लड़कियाँ आमदनी से जुड़ी अन्य गतिविधियों जैसे शर्ट, बैग, क्लिप, पर्स आदि पैक करने में अपने माता–पिता की मदद करती थीं। धूल और गंदगी से भरे धुँधले कारखाने कई बच्चों के लिए काम करने की जगह के साथ–साथ रहने के स्थान भी थे जहाँ वे सिर्फ अपने पुरुष रिश्तेदारों के साथ रहते थे ताकि उन्हें 'गुणवत्तापूर्ण शिक्षा' उपलब्ध हो सके। उनके घरों (यदि उन्हें घर कहा जा सकता है तो) में साफ–सफाई नहीं थी और पानी, स्वास्थ्य और खेलने की जगह जैसी बुनियादी सुविधाएँ सुलभ नहीं थीं।

इस अध्याय के ढाँचे का अनुसरण करते हुए मैंने आदिवासियों की हाशियाबन्दी की चर्चा करते हुए उन्हें पढ़ाना शुरू किया। जिन पहलुओं की हमने चर्चा की, उनमें सांस्कृतिक हाशियाबन्दी और शिक्षा व तरक्की के मौकों और सुलभता के ढाँचों से उसके सम्बन्ध की चर्चा शामिल थी। इसके माध्यम से बच्चे अच्छे से समझ पाए कि वैयक्तिक और सामाजिक स्तरों पर हाशियाबन्दी का अर्थ क्या होता है।

विद्यार्थियों ने जल्दी ही खास मुद्दों को अपनी जिन्दगियों से जोड़ लिया। उदाहरण के लिए, भाषा–सम्बन्धी अपेक्षाओं के चलते खुद उनकी हाशियाबन्दी के सन्दर्भ में उनका यह कहना था :

- *"एक बार हम एक मैच खेलने के लिए सेंट जॉर्ज स्कूल गए। वहाँ प्राइमरी स्कूल के छोटे–छोटे बच्चे भी अँग्रेजी बोल रहे थे। हमें बड़ा दुख हुआ कि हम अँग्रेजी क्यों नहीं बोल पाते। हम भी स्कूल जाते हैं, लेकिन हम तो अँग्रेजी बोलना नहीं सीख पाए।"*
- *"जब ग्रामीण इलाकों के बच्चे 'सड़क' के बजाय 'सरक' ('ड़' की जगह कोमल 'र') बोलते हैं तो उनका मजाक बनाया जाता है।"*

जब हम मुसलमानों की हाशियाबन्दी पर पहुँचे, तो बच्चे उसे और अच्छे से समझ पाए और उससे सम्बन्ध स्थापित कर सके। इस मामले में उनके पास बोलने को बहुत कुछ था :

- *"मुसलमानों को नीची नजरों से देखा जाता है।"*
- *"यदि मुसलमान और हिन्दू लड़ते हैं और मामला अदालत में जाता है, तो मुसलमानों को छोटा बना दिया जाता है। मुकदमा हिन्दू जीत लेते हैं।"*
- *"फिल्मों में खलनायक मुसलमान होते हैं।"*
- *"एक बार मेरी पड़ोसी नौकरी की तलाश में थी; दूसरे समुदायों के लोग उसे नौकरी नहीं देना चाह रहे थे। जब उसे नौकरी मिली, तो उसे बहुत अपमान भरे अनुभव से गुजरना पड़ा। क्या मुसलमान होना पाप है?"*
- *"जब कभी कहीं बम विस्फोट होता है, कसूरवारों में मुसलमानों का नाम सबसे पहले लिया जाता है।"*
- *"जब मुसलमान स्त्रियाँ बुरके में जाती हैं, तो अलग दिखने के कारण, गैर–मुसलमानों जैसा न दिखने के कारण, उनसे घृणा की जाती है।"*
- *"न सिर्फ हम, बल्कि सभी मुसलमान भाई इस बात से अवगत रहते हैं कि मुसलमानों को परेशान किया जाता है। यदि कोई अप्रिय घटना घटती है तो उसके लिए मुसलमानों को ही दोष दिया जाता है। मुसलमानों को फिल्मों में भी अपराधी दिखाया जाता है।"*
- *"मुसलमान परिवार आर्थिक रूप से कमजोर होते हैं; बड़ों के साथ बच्चों को भी आर्थिक जिम्मेदारियों का भार उठाना पड़ता है। इसलिए वे स्कूल के बाद पढ़ाई छोड़ देते हैं और कालेज नहीं जाते।"*
- *"जब गुजरात में मुसलमानों के साथ अत्याचार और क्रूरता बरती गई तो उनकी मदद के लिए कोई आगे नहीं आया। ऐसा इसलिए हुआ कि वहाँ कोई भी मुसलमान सरकारी नौकरी में नहीं था।"*

इन प्रतिक्रियाओं को बारीकी से देखने पर हमें एहसास होगा कि बच्चों के वैयक्तिक अनुभवों को सामूहिक अनुभवों के रूप में वैधता मिल रही थी। इस अध्याय में सच्चर समिति की रिपोर्ट की सूचनाएँ और आँकड़े दिए गए थे जिन्होंने बच्चों के इन अनुभवों को और प्रामाणिकता प्रदान की; इसने उन्हें अपने अनुभवों को पूरे धार्मिक समुदाय के अनुभवों से जोड़कर देखने के लिए प्रेरित किया। उनकी प्रतिक्रियाओं ने इन बातों पर प्रकाश डाला : हिजाब या बुरका इस्तेमाल करने को लेकर दूसरे समुदायों के पूर्वाग्रह के अनुभव, राज्य द्वारा संचालित संस्थाओं जैसे अदालतों और पुलिस विभाग में भेदभाव के अनुभव, शिक्षा और रोजगार आदि में मौकों का अभाव। कुछ बच्चे अपनी सांस्कृतिक और सामाजिक–आर्थिक जिन्दगियों के बीच सम्बन्ध बनाने में भी सफल रहे थे।

मुझे एहसास हुआ कि बच्चों के साथ बिताए गए इस सत्र से मुझे जो कुछ भी हासिल हुआ वह सामुदायिक स्तर की एक अधिक व्यापक चेतना ही थी। अब मैं कुछ सवालों को खुद से पूछने के लिए मजबूर हो गई थी : क्या उनकी मुस्लिम चेतना, और यह समझ, कि यह समुदाय ज्यादा बड़े सामाजिक–सांस्कृतिक ढाँचों का शिकार है, उन्हें आत्मविश्वास देगी या उनकी प्रगति में और बाधा डालेगी। या क्या ये बच्चे संयोजित नुकसानों के विचार को मानेंगे और अपनी हाशियाबन्दी को कई कारकों के एक–दूसरे से जुड़ जाने का परिणाम मानेंगे? यह कहना सही हो सकता है कि किसी रूप में भारतीय मुसलमानों को बस मुसलमान

होने के कारण हाशिए पर रखा जाता है। पर इन मुस्लिम श्रमिकों–बच्चों की हाशियाबन्दी के लिए सिर्फ धार्मिक पहचान किस हद तक जिम्मेदार हो सकती है?

पाठ्यपुस्तक या शिक्षक के पास इतनी सामर्थ्य क्यों होना चाहिए कि वे धर्म को बच्चों की अपरिहार्य पहचान बना सकें? क्या उन्हें यह समझने की स्वतंत्रता नहीं मिलना चाहिए कि उनके पास एक नहीं अनेक पहचानें हैं? यदि भविष्य में वे अपने शोषण के विरुद्ध संघर्ष छेड़ना चाहें तो क्या उनके पास यह स्वतंत्रता नहीं होना चाहिए कि वे अपने बहुरंगी पहचानों में से किसी को 'एंकर', या 'प्रेरक तत्व' के रूप में चुन सकें? पर क्या यह उनकी एक अलग अल्पसंख्यक पहचान को एक अधिक बड़ी इकाई के भीतर विलीन कर देना या उसे धुँधला बना देना नहीं होगा? दूसरी तरफ, क्या तब इसका उलटा नहीं होता जब कुछ लोगों और उनकी बहुरंगी विशेषताओं को अनदेखा करते हुए उनपर मुसलमान होने की प्रबल पहचान लाद दी जाती है? क्या मेरे बच्चों को उनकी स्थिति की ऐतिहासिकता को नहीं समझना चाहिए और इस स्थिति को 'स्वाभाविक निष्कर्ष' के रूप में स्थापित करने के प्रयत्नों का विरोध करने के लिए प्रेरित नहीं करना चाहिए? उन्हें अल्पसंख्यकों की सुरक्षा के संवैधानिक वादे के बारे में बताते हुए भी क्या उनकी हाशियाबन्दी को समझने और उसके खिलाफ संघर्ष करने की स्वतंत्रता नहीं मिलना चाहिए? यह बहुत जरूरी है कि विद्यार्थी और किशोर उनकी पहचान के बहुरंगी आयामों से सम्बन्ध स्थापित कर सकें; उनके ऐसा कर पाने पर ही वे अन्य लोगों की बहुरंगी पहचानों को समझ पाएँगे।

हम बच्चों की प्रतिक्रियाओं से यह समझ सकते हैं कि उनमें अलगाव की बहुत गहरी भावना है। उनमें यह एहसास जागना जरूरी था कि वे एक समुदाय का हिस्सा हैं ताकि वे एक–दूसरे से सम्बल हासिल कर पाते और मिलकर अपनी हाशियाग्रस्त स्थिति के खिलाफ संघर्ष कर सकते। इन चिन्ताओं ने मुझे शिक्षक की भूमिका की चुनौतीमय, महत्त्वपूर्ण और राजनैतिक प्रकृति का एहसास कराया। यह चुनौती मेरे बूते से बाहर थी। मुझे लगा कि मैं इस विषय को पूरी सम्पूर्णता और आत्मविश्वास के साथ नहीं पढ़ा सकती थी!

फिर भी, मैं इस विषय को इसके तर्कसंगत अन्त तक पहुँचाना चाहती थी। अनिल सेठी, जिनका मैं आभार व्यक्त कर चुकी हूँ, और जिन्होंने पूर्व में स्कूल में हिस्ट्री क्लब स्थापित करने में मदद की थी, ने इस कक्षा को आगे बढ़ाते हुए संचालन का प्रस्ताव रखा। नीचे विद्यार्थियों और उनके बीच दो घण्टे चली कक्षा से एक उद्धरण दिया गया है:

शिक्षक (शि): हम सबकी बहुत–सी पहचानें हैं। क्या तुम बता सकते हो कि ये पहचानें कौन–सी हैं?

बच्चा/बच्चे (ब): हम हिन्दुस्तानी हैं लेकिन हम मुसलमान भी हैं।

शि: हाँ, पर और भी कई पहचानें हो सकती हैं। तुम बिहार से हो सकते हो और तुम्हारी अपनी कोई भाषा या भाषाएँ हो सकती हैं। तुम लड़का या लड़की हो सकते हो। और आय के विभिन्न स्तर भी पहचान का आधार हो सकते हैं? है कि नहीं?

ब: हाँ, बिलकुल!

शि: तो फिर हम यह क्यों कहते हैं कि हमें मुस्लिम होने के कारण हाशिए पर रखा गया है? कुछ परिवारों में लड़कों को लड़कियों की तुलना में कहीं ज्यादा देखभाल और तवज्जो दी जाती है। वह लड़का उसके परिवार में हाशिए पर नहीं है, लेकिन उसकी परिवार की कम आमदनी के कारण वह अपने आपको समाज के हाशिए पर जरूर महसूस कर सकता है। क्या हाशियाबन्दी को एक ही चश्मे से समझा जा सकता है?

ब: "हम मुसलमान जाति और दर्जे के हिसाब से निम्न हैं, इसलिए हम हाशिए पर हैं।"

शि: "कुछ परिस्थितियों में, मुसलमानों को एक जातिगत समूह के रूप में भी समझा जा सकता है। फिर पूरे समुदाय को एक जाति माना जाता है। कई स्थानों पर, ऊँची जाति के हिन्दू मुसलमानों के साथ वैसी ही छुआछूत मानते हैं जैसी कि वे नीची जातियों के साथ मानते हैं।"

ब: "ऐसे सभी मुसलमान हाशियाबन्दी के शिकार हैं।"

शि: "यदि वे शिकार हैं, तो मुजरिम कौन हैं?"

ब: "मुसलमानों को सरकार का सहयोग नहीं मिलता।"

(एक विस्तृत चर्चा होती है।)

शि: "कई प्रतिष्ठित मुसलमान पाकिस्तान चले गए (बँटवारे के समय)। क्या यह एक वजह है कि सरकार उन पर ध्यान नहीं देती?"

शि: "जब दो या अधिक (हाशियाबन्द) पहचानें, मिल जाती हैं, तो उसके कई नुकसान झेलना पड़ते हैं।"

ब: "कुछ परिस्थितियों में, यह सरकार की गलती नहीं होती। मुसलमान ज्यादा पढ़ते नहीं हैं।"

ब: "ऐसा इसलिए होता है क्योंकि उन्हें गरीबी की वजह से काम पर लगना पड़ता है।"

शि: "फिर उनकी कौन–सी पहचान उन्हें नुकसान पहुँचा रही है?"

ब: "गरीब श्रमिक वर्ग से होना और मुसलमान होना, दोनों ही।"

बाद में हाशियाबन्दी के खिलाफ संघर्ष करने के तरीकों की चर्चा शुरू हुई। बच्चों की अलग–अलग प्रतिक्रियाओं से पता चला कि अधिकांश बच्चे अपनी अलग पहचानों को, और उससे जुड़े नुकसानों को समझ चुके थे। उन्होंने पहचान के कारकों के एक–दूसरे में भिदने की हकीकत को भी समझ लिया था। उनमें उनकी प्रगति के आड़े आने वाली सामाजिक–राजनैतिक रुकावटों की भी समझ थी, अलबत्ता अपनी उम्र के मुताबिक। उन्होंने समाधानों की भी बात की। ये 'समाधान' भले ही आदर्शवादी हों लेकिन क्या सपने किसी अभिक्रम का कच्चा माल नहीं होते?

मैंने शुरुआत में यह माना था कि बच्चे मेरे साथ खुलकर और बेझिझक बात कर रहे हैं क्योंकि वे मुझे एक सहधर्मी के रूप में देख रहे थे। पर अनिल के द्वारा आपसी आदर और विश्वास से भरा पहले से पूर्वाग्रह भरे फैसले न लेने वाला परिवेश सुनिश्चित किए जाने ने उन्हें और प्रफुल्लित और अपने अनुभव बाँटने के लिए उत्सुक बना दिया। उनके लिए, यह उनकी स्थिति को पहचानने जैसा था और उन्होंने किसी दूसरे समुदाय के व्यक्ति द्वारा दिखाई गई संवेदना को भी सराहा। इस चर्चा ने बच्चों को अपने सम्भावित उद्धार के उपाय के रूप में लोकतांत्रिक संघर्षों में झाँकने का भी मौका दिया:

ब: "हमें एक आन्दोलन शुरू करना होगा।"

ब: "हाँ, हम मुसलमानों के लिए एक आन्दोलन चलाएँगे, सरकार के खिलाफ आन्दोलन ताकि हमें नौकरियाँ मिल सकें।"

शि: "पर तुम लोग तो यह भी कह रहे थे कि हाशियाबन्दी इसलिए भी होती है क्योंकि तुम लोग श्रमिक वर्ग से हो।"

ब: "हाँ, श्रमिक होना उनकी हाशियाबन्दी को और बढ़ा देता है।"

शि: "तो तुम लोग अपने आन्दोलन को किस प्रकार संचालित करोगे?"

ब: "हम सभी श्रमिक भाइयों को लामबन्द करेंगे ताकि हमें उचित मजदूरी मिल सके, रहने को घर मिल सके; श्रमिकों के बच्चों को भी अच्छी शिक्षा मिलना चाहिए और उन्हें भी जिन्दगी में आगे बढ़ना चाहिए!"

शि: "जनान्दोलन का दरअसल क्या मतलब होता है? हम इसे कैसे संचालित करेंगे? यह कैसे सफल होगा? क्या हम इन आन्दोलन को मुसलमानों की हैसियत से संचालित करेंगे या फिर श्रमिकों की हैसियत से या फिर दोनों ही रूप में?"

मैं राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा–2005 पर आधारित एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा तैयार की गई सामाजिक विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों की बड़ी प्रशंसक रही हूँ, लेकिन वे विभिन्न सन्दर्भों में संवादात्मक समझ की दिशा तय करने के लिए शिक्षक के हाथ में रहने वाले उपकरणों में से सिर्फ एक उपकरण हैं, और ऐसा ही होना चाहिए। किसी ऐसे स्कूल में जहाँ अधिकांश बच्चे सुविधासंपन्न या हिन्दू बहूसंख्यक पृष्ठभूमियों के होते हैं, वहाँ के शिक्षक हो सकता है कि अल्पसंख्यक समुदाय के सामने आने वाली चुनौतियों से बच्चों को परिचित कराने और उनमें एकजुटता की भावना जगाने के भिन्न उद्देश्यों के साथ इस विषय को पढ़ा सकते हैं।

छठवीं, सातवीं और आठवीं कक्षाओं के लिए सामाजिक और राजनैतिक जीवन, भाग 1, 2 और 3 की एन.सी.ई.आर.टी. पाठ्यपुस्तकों को तैयार करने वाले लोगों ने समझदारी दिखाते हुए इन किताबों में सामाजिक–राजनैतिक हाशियाबन्दी पर एक अध्याय को शामिल किया है। इन किताबों में वे लोग एक–दूसरे से जुड़ती और एक–दूसरे को काटती पहचानों की बात करते हैं। उदाहरण के लिए, हमारे देश में, वर्ग और जाति या वर्ग और धर्म, समान रूपी भी हो सकते हैं और असमान रूपी भी। देश में ऐसे स्थान भी हैं जहाँ नीची जातियाँ या मुसलमान, निचले वर्ग भी हैं (एक–दूसरे से जुड़ती या समरूपी पहचानें) होते हैं, और ठीक इसी तरह ऐसे स्थान भी हैं जहाँ ऐसा नहीं होता। फिर भी, जैसा कि कई अध्ययनों और पड़तालों से पता चला है, मुसलमान होने, गरीब होने और बहुत सी अन्य प्रतिकूल परिस्थितियों का

सामना करने की स्थितियाँ एक–दूसरे से जुड़ जाती हैं। अन्तिम विश्लेषण के तौर पर यह कहा जा सकता है कि मुसलमानों, आदिवासियों और दलितों द्वारा झेले जाने वाली हाशियाबन्दी के संयोजित नुकसानों की हकीकत को विद्यार्थियों तक पहुँचाना बहुत जरूरी है।

आभार:

मैं अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय, बेंगलूरु में इतिहास और इतिहास–शिक्षा के प्राध्यापक, तथा मेरे मित्र और सहकर्मी अनिल सेठी को दिल से धन्यवाद देती हूँ कि उन्होंने इस लेख में उल्लिखित अभ्यास में भाग लिया, मैंने यहाँ जो विचार रखे हैं, मेरे साथ उनकी चर्चा की तथा इस लेख का तीक्ष्ण दृष्टि से सम्पादन किया।

फ़राह फ़ारूक़ी जामिया मिलिया इस्लामिया, नई दिल्ली में शिक्षाशास्त्र की प्राध्यापक हैं। वे पुरानी दिल्ली में स्थित, सरकार द्वारा सहायता प्राप्त, एक मुस्लिम बहुसंख्या वाले स्कूल की प्रबन्धक भी हैं। वर्तमान में वे शिक्षा विमर्श, जयपुर में "स्कूल मैनेजर की डायरी के कुछ पन्ने" नाम से लेखों की एक शृंखला लिख रही हैं। उनसे farah.farooqi@rediffmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद :** भरत त्रिपाठी

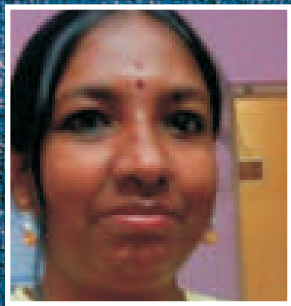

विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों में समावेश

एस. इन्दुमति

यह बात पूछी जा सकती है कि यदि विज्ञान बस प्राकृतिक घटनाओं को स्पष्ट करने वाले तथ्यों, अमूर्त अवधारणाओं, परिभाषाओं, सिद्धान्तों और नियमों का जोड़ है, तो विज्ञान की पाठ्यपुस्तकें किस तरह समावेशी हो सकती हैं? सामाजिक सन्दर्भ तो उदाहरणों के माध्यम से पाठ्यपुस्तकों में प्रवेश कर लेता है। भौतिकशास्त्र में धक्का देने और खींचने को स्पष्ट करते हुए, किसी के द्वारा ठेले को धक्का देने या भारी वस्तु को धक्का देने के उदाहरण दिए जाते हैं। यहाँ पर समावेश से जुड़ा हुआ प्रश्न होगा कि धक्का 'कौन' दे रहा है और 'किसको' धक्का दे रहा है। पर सवाल यह है कि ऐसे उदाहरणों, छवियों, दृष्टान्तों और व्याख्याओं में सभी जातियों, वर्गों, धर्मों, लिंगों और अन्य सामाजिक पहचानों वाले बच्चों का समावेश किया जाता है या नहीं।

चाहे विज्ञान हो, गणित हो या सामाजिक विज्ञान, पाठ्यपुस्तकें ऐसी होना चाहिए जिनसे विद्यार्थी सम्बन्ध बना सकें। सवाल यह है कि क्या ये सभी तरह के विद्यार्थियों से सम्बन्ध स्थापित करते हुए उनसे जुड़े दृष्टिकोणों और मूल्यों को प्रस्तुत कर पाती हैं? एक अच्छी और प्रभावी पाठ्यपुस्तक वह है जो विविधता और भिन्नताओं को निरूपित करे। मजूमदार और मूइज (2009, पृ. 136) के अनुसार यहाँ तीन भिन्न मुद्दे हैं "अ) प्रासंगिकता, ब) चुप्पी बनाम विभिन्नताओं को खुले ढंग से स्वीकार करना, और स) समावेश का प्रकार, जहाँ सच्चा सम्मान और प्रतीकवाद दो अतियाँ होती हैं।" इस विश्लेषण में, मैं इन तीन मुद्दों को एक चश्मे के रूप में इस्तेमाल करते हुए विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों में समावेश और बहिष्कार की स्थिति को देखना चाहती हूँ।

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (एन.सी.एफ.) 2005 में सभी विद्यार्थियों के समावेश तथा पाठ्यपुस्तकों को किस प्रकार लिखा जाना चाहिए, इसके बारे में महत्त्वपूर्ण टिप्पणियाँ की गई हैं। पाठ्यपुस्तक की विषयवस्तु ऐसी होना चाहिए जो बहुसांस्कृतिक और विविधतापूर्ण कक्षाओं तथा लिंग, वर्ग, संस्कृति, धर्म, भाषा और भौगोलिक स्थिति से सम्बन्धित भिन्नताओं की जरूरतों को ध्यान में रखे। एन.सी.एफ. 2005 को ध्यान में रखकर बनाई गई एन.सी.ई.आर.टी. पाठ्यपुस्तकों में इस बात का प्रयास किया गया है। मैंने ई.वी.एस. की पाठ्यपुस्तकों का विश्लेषण किया और पाया कि उनकी विषयवस्तु में भारत के सभी भौगोलिक क्षेत्रों, भाषाई पृष्ठभूमियों और लिंगों के विद्यार्थियों को शामिल किया गया है। अब मैं इस लेख के उद्देश्य के लिए कक्षा 8 की एन.सी.ई.आर.टी. की विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों का विश्लेषण करूँगी।

किसके लिए प्रासंगिक ?

आठवीं की पाठ्यपुस्तक में करीब 18 अध्याय हैं। दो किरदार हैं, पहेली और बूझो। वे सवाल करते हैं, बातों को स्पष्ट करते हैं, भ्रमित होते हैं और फिर स्पष्टीकरण ढूँढ़ने में एक–दूसरे की मदद करते हैं। इस किताब को बातचीत की भाषा में लिखा गया है। हर बार इसकी शुरुआत पाठकों से यह कहते हुए होती है, 'आपने यह देखा होगा कि, क्या आपने पाया, आपने यह नहीं देखा होगा..।' इस खण्ड में, मैं इस बात पर चर्चा करना चाहूँगी कि यह किताब किनको पाठक मानती है।

सूक्ष्मजीवों के पाठ में कहा गया है कि, 'बूझो को उसके दोस्त द्वारा एक पार्टी में आमन्त्रित किया गया है, और वहाँ उसने तरह–तरह के व्यंजन खाए'। सवाल यह है, कि कौन–से वर्ग समूह ऐसे हैं जो पार्टियों में आमन्त्रित किए जाते हैं और उन्हें तरह–तरह के व्यंजनों को चखने या खाने का अवसर मिलता है? संरक्षण की चर्चा करते हुए, यह वाक्य इस तरह शुरू होता है 'इसी प्रकार हम अपना खाना रेफ्रिजरेटर में रखते हैं' – क्या सभी विद्यार्थी खाना रेफ्रिजरेटर में रख सकते हैं, या रखते हैं? 'आपके बचपन में आपको निश्चित ही इंजेक्शन और टीके लगे होंगे' – कितने गरीब बच्चों को बीमारियों से बचाने के लिए टीके

लगाए जाते हैं या क्या यहाँ यह माना जा रहा है कि यदि कोई कक्षा 8 में पढ़ रहा है और जीवित है तो पक्के में उसे टीका लगा होगा?

संश्लेषित रेशे (सिंथेटिक फाइबर) और प्लास्टिक के अगले अध्याय में उपयोग किए गए उदाहरण इस प्रकार हैं, 'हम नायलॉन से बनी कई चीजें इस्तेमाल करते हैं, जैसे मोजे, रस्सियाँ, तम्बू, टूथब्रश, कार के सीटबेल्ट, स्लीपिंग बैग, परदे आदि।' फिर आगे लिखा गया है 'मेरी माँ चावल और शक्कर रखने के लिए हमेशा पी.ई.टी. बोतलें खरीदती हैं। मैं सोच में पड़ गई कि यह पी.ई.टी. क्या है!' पी.ई.टी. जार सिर्फ कुछ लोग (मध्यम वर्गीय और उच्च वर्ग क) खरीद सकते हैं। नीचे प्लास्टिक को बताने के लिए उपयोग की गई कुछ तस्वीरें हैं।

चित्रों में दिखाए गए बच्चे भली–भाँति तैयार होते हैं और अधिकांशतः जूते–मोजे पहनते हैं। ऊपर दिए गए उदाहरण बिलकुल स्पष्ट हैं और यह चिन्ताजनक बात है

स्रोतः एन.सी.ई.आर.टी., कक्षा 8 विज्ञान पाठ्यपुस्तक

कि यह पाठ्यपुस्तक मध्यमवर्गीय और शहरी बच्चों को अपने पाठकों के रूप में देखती है।

महिलाओं की भूमिका को लेकर चुप्पी और लिंग–आधारित भूमिकाओं की रूढ़िबद्धताः

फसलोत्पादन और उसके प्रबन्धन के अध्याय में, सभी किसान पुरुष हैं – चाहे बुवाई की बात हो, जुताई या कीटनाशक नियन्त्रकों की, तथा तस्वीरों में दिखाए गए मवेशी सफेद झक (दूध जैसे सफेद) और एकदम स्वस्थ हैं! कृषि में महिलाओं द्वारा किए जाने वाले श्रम पर कोई बात नहीं की गई है और इसे स्वीकार्यता नहीं दी गई है, पर हकीकत तो यही है कि महिलाएँ खेतों और जमीनों की देखभाल कर रही हैं, वहीं पुरुष नौकरियों की तलाश में शहरों को जा रहे हैं क्योंकि खेती आय का भरोसेमन्द स्रोत नहीं है। इसके अलावा, मैंने अपने पूरे जीवन में इतने सफेद मवेशी कभी नहीं देखे। क्या आपने देखे हैं? इस अध्याय में फसलोत्पादन और संग्रहण में आने वाली विभिन्न समस्याओं पर भी कोई बात नहीं की गई है।

कई अध्यायों में पुरुष वैज्ञानिकों के नाम और कुछ जगहों पर उनके चित्र दिए गए हैं जैसे – पाश्चर, फ्लेमिंग और जैनर आदि। महिला वैज्ञानिकों के विज्ञान में योगदान की कोई बात नहीं की गई है।

नीचे दिए गए उदाहरण लैंगिक भूमिकाओं की रूढ़िवादी छवि प्रस्तुत करते हैं और उनके साथ जो कुछ लिखा गया है वह हतप्रभ करने वाला है। 'तुमने देखा होगा कि तुम्हारी माँ दूध का संग्रह करने या उसे इस्तेमाल करने से पहले उसे उबालती हैं।' 'ओह! अब मैं समझा कि मेरी माँ किचन में काम करते वक्त कभी भी पॉलिएस्टर के कपड़े क्यों नहीं पहनती।'

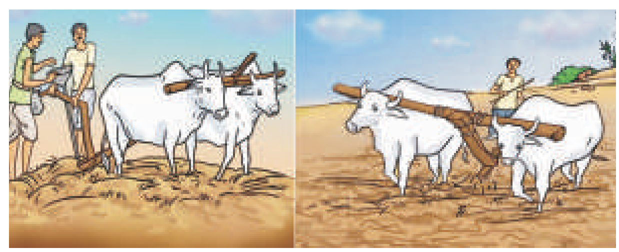

स्रोतः एन.सी.ई.आर.टी., कक्षा 8, विज्ञान पाठ्यपुस्तक

आटा गूँथते हुए एक स्त्री के हाथ
स्रोतः एन.सी.ई.आर.टी., कक्षा 8, विज्ञान पाठ्यपुस्तक

भोग द्वारा किए गए पाठ्यपुस्तकों के विश्लेषण से पता चलता है कि जिन 75 पाठों की समीक्षा की गई है उनमें से लगभग 50प्रतिशत में सिर्फ पुरुष ही कर्ता थे। विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों में महिलाएँ बहुत मामूली भूमिकाओं में सामने आती हैं और ऐसी सकारात्मक आदर्श महिलाएँ नदारद हैं जिनके साथ लड़कियाँ तादात्म्य स्थापित कर सकें। महिलाओं को माताओं और बहनों की परम्परागत भूमिकाओं में पेश किया गया है (भोग 2002, पृ. 1640)।

भोग दलील देती हैं कि मैरी क्यूरी के चित्रण (जो पाठ्यपुस्तकों में महिलाओं का प्रतिनिधित्व करने वाली अकेली महिला हैं) को भी लैंगिक चश्मे से प्रस्तुत किया गया है क्योंकि उनसे जुड़े विवरण में उनकी घरेलू जिम्मेदारियों को विशेष रूप से दर्शाया गया है और 'पुरुष वैज्ञानिकों जैसे विक्रम साराभाई और जे.सी. बोस की कहानियों के विपरीत महिलाओं की उपलब्धियों को, घरेलू गतिविधियों में उनकी भागीदारी के माध्यम से, सीमित कर देना और सामान्य बना देना जरूरी है' (2002, पृ. 1641)।

संश्लेषित रेशे और प्लास्टिक वाले अध्याय में सभी वस्तुएँ 'मैन–मेड (पुरुषों द्वारा निर्मित)' हैं। नीचे नायलॉन की रस्सी का उपयोग करते हुए पहाड़ पर चढ़ते एक आदमी की तस्वीर दी हुई है:

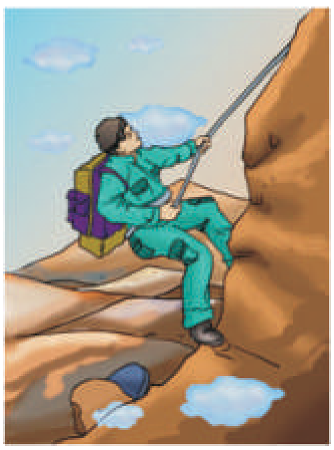

स्रोतः एन.सी.ई.आर.टी., कक्षा 8, विज्ञान पाठ्यपुस्तक

पौधों और जानवरों के संरक्षण के बारे में बात करने के लिए जिन किरदारों को प्रस्तुत किया गया है वे सभी पुरुष हैं, और उनके नाम हैं प्रोफेसर अहमद तथा टीबू और माधवजी–जो वन पथ प्रदर्शक हैं। बल और दाब के अध्याय में जोर डालते हुए सिर्फ पुरुषों और लड़कों की तस्वीरें दी गई हैं। लड़के फुटबॉल, हॉकी खेल रहे हैं और गेंद को रोक रहे हैं, तथा अपने वाहन को धक्का लगाते, मवेशियों को हाँकते आदमियों की तस्वीरें, और बक्से को धक्का देते, चके को चलाते लड़कों की तस्वीरें दी गई हैं, जबकि लड़कियों को झूला झूलते हुए 'मजा–मौज' करते हुए प्रस्तुत किया गया है। कार को चलाने वाला ड्राइवर भी पुरुष है।

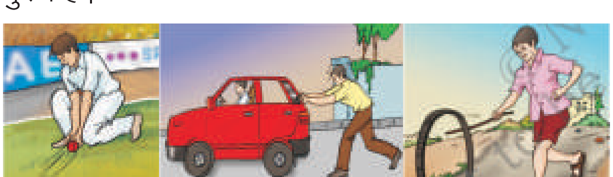

स्रोतः एन.सी.ई.आर.टी., कक्षा 8, विज्ञान पाठ्यपुस्तक

विज्ञान और समाज

"ऐसा लगता है कि हाशिए पर सीमित पृष्ठभूमियों के विद्यार्थियों की नई पीढ़ी के लिए ये पाठ्यपुस्तकें, ऐसा आईना दिखाने के बजाय जिनमें वे अपने जीवन की वास्तविकताओं को देख सकते, केवल एक ऐसा झरोखा प्रदान करती हैं जिसके माध्यम से वे प्रभुत्वसम्पन्न वर्ग के यथार्थ को देख सकें" (मजूमदार और मूईज, 2009)। इस हकीकत के बावजूद कि जल अपने आप में एक सीमित साधन है, पाठ्यपुस्तकें यह बताती चलती हैं कि 'कई घरों में पानी को उबालकर सुरक्षित पीने का पानी प्राप्त किया जाता है'। ऐसा प्रतीत होता है कि यह पाठ्यपुस्तक कई मुद्दों को समस्या के रूप में प्रस्तुत नहीं करतीं और विज्ञान व समाज के मुद्दे को सामने नहीं लातीं हालाँकि ऐसे कई अध्याय हैं जहाँ इस चर्चा को जगह दी जा सकती थी। यह पाठ्यपुस्तक वंचित समुदाय के बच्चों की जिन्दगियों के बारे में बिलकुल मौन है और उनका चित्रण प्रस्तुत नहीं करती, इसमें केवल मध्यम वर्ग और शहरी (लड़के) विद्यार्थियों की जिन्दगियों को प्रस्तुत किया गया है।

विज्ञान में अलग–अलग तरह के, एक–दूसरे से विपरीत दृष्टिकोण प्रस्तुत करने से विभिन्न मुद्दों के बारे में समीक्षात्मक सोच, तार्किक दृष्टि और विश्लेषण क्षमता विकसित करने में मदद मिलेगी। विज्ञान पढ़ने से विद्यार्थियों को वैज्ञानिक रूप से साक्षर होने में तथा नागरिकों के रूप में लोकतन्त्र में सक्रिय रूप से भाग लेने में भी मदद मिलेगी। पाठ्यपुस्तकों की भूमिका ऐसी होना चाहिए कि बच्चों की बौद्धिक क्षमताओं के विकास में उनका योगदान रहे तथा विरोधी दृष्टि और कई तरह के यथार्थों को प्रस्तुत करके वे निष्पक्षता को बढ़ावा दें (मजूमदार और मूइज, 2009)। निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि कक्षा आठ की विज्ञान की यह पाठ्यपुस्तक इस प्रकार की पाठ्यपुस्तक तो नहीं है।

यह भी सम्भव है कि विद्यार्थी पाठ्यपुस्तक में प्रस्तुत जानकारियों को ज्यों–का–त्यों ग्रहण न करें। वे अपने अर्थों को भी शिक्षण की प्रक्रिया में ला सकते हैं, शिक्षक भी पाठ्यपुस्तक की सामग्री को प्रस्तुत करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। पर भारत में कई विद्यार्थियों के लिए पाठ्यपुस्तकें ही पढ़ने का अकेला स्रोत या अकेली पाठ्यसामग्री होती हैं और वे उनकी शिक्षा में बहुत ही खास भूमिका निभाती हैं, और इसलिए इस बात का ध्यान रखना बहुत जरूरी है कि पाठ्यपुस्तकों में सभी तरह के विद्यार्थियों का प्रतिनिधित्व हो और निष्पक्षता को

सुनिश्चित किया जाए। आश्चर्य की बात है कि कक्षा पाँच तक ई.वी.एस. की पाठ्यपुस्तकें विभिन्न तरह के दृष्टिकोणों को प्रस्तुत करती हैं और भाँति–भाँति के उदाहरण देकर सभी तरह के विद्यार्थियों का खयाल रखती हैं। दुर्भाग्य से जब हम ऊँची कक्षाओं की तरफ बढ़ते हैं और किसी अध्ययन शाखा विशेष के विषयों पर ध्यान देते हैं, तो पाते हैं पाठ्यपुस्तकों की प्रकृति कतई समावेशी नहीं है और हम इस सोच में पड़ जाते हैं कि अमूर्त अवधारणाओं को प्रस्तुत करने पर ज्यादा ध्यान केन्द्रित करते समय क्या किसी अध्ययन शाखा की प्रकृति और उसकी सीमाएँ समावेशी होना मुश्किल बना देती हैं!

References

- Bhog, D. (2002). Gender and Curriculum, Economic and Political Weekly, 37(17), pp. 1638-1642.
- Majumdar, M., & Mooij, J. (2011). Education and Inequality in India: a classroom view, London: Routledge.
  NCERT. (2005). National Curriculum Framework, NCERT: New Delhi

एस.इन्दुमति अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय, बेंगलूरु में फेकल्टी की सदस्य हैं। उनकी रुचियों में शामिल हैं विज्ञान शिक्षा, लिंगभेद और शिक्षा तथा पाठ्यपुस्तकों की समीक्षा। उनसे s.indumathi@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : भरत त्रिपाठी

समावेशी शिक्षा नीति के क्रियान्वयन में समस्याएँ: अल्मोड़ा के लमगारा ब्लाक का अवलोकन

जयश्री पाण्डे

समावेशी शिक्षा की अवधारणा भारत के लिए नई नहीं हैं, पर यह व्यापक प्रचलन में पिछले दशक में आई जब शिक्षा का अधिकार (आर.टी.ई.) एक मूलभूत अधिकार बन गया। समावेशी शिक्षा में निहित मूल विचार यह है कि प्रत्येक बच्चे के साथ समान व्यवहार किया जाए और उसे उसकी अन्तर्निहित सही क्षमता को साकार करने का पर्याप्त अवसर दिया जाए। इसमें स्कूल के भीतर ऐसी शिक्षण पद्धतियों का उपयोग भी निहित है जिनमें प्रत्येक बच्चे, चाहे उसकी जाति, वर्ग, विशिष्ट संस्कृति, लिंग तथा योग्यता के अन्तर जो भी हों, की जरूरतों पर समुचित ध्यान दिया जाए।

हालाँकि समावेशी शिक्षा की नीति मित्रतापूर्ण, प्रभावशाली और अलग–अलग क्षमताओं वाले बच्चों की विविध प्रकार की जरूरतों का समाधान करने वाली प्रतीत होती है, परन्तु अकसर इसका लापरवाह क्रियान्वयन जमीनी वास्तविकता की चिन्ताजनक तस्वीर पेश करता है।

यह लेख सरकारी नीतियों की खामियों, समुदाय तथा शिक्षकों के उदासीन और गैर–जिम्मेदाराना रवैए तथा विशेष शिक्षा प्रदान करने वालों की अत्यधिक उत्साह हीनता को दर्शाता है, जो सब मिलकर इस सराही जाने वाली समावेशी शिक्षा नीति के अल्मोड़ा के लमगारा ब्लाक में लागू किए जाने की निराशाजनक कथा चित्रित करते हैं।

क्षेत्र में किए गए कुछ अवलोकन

अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन के फैलोशिप कार्यक्रम के अंग के रूप में फैलोज को सरकारी शिक्षा व्यवस्था की जटिलताओं को तथा कक्षा के भीतर होने वाली शिक्षण प्रक्रियाओं को समझने के लिए स्कूलों का विस्तृत अवलोकन करना आवश्यक होता है।

अल्मोड़ा जिले के लमगारा ब्लाक, जो अल्मोड़ा के बहुत फैले हुए ब्लाकों में से एक है, में मुझे अक्षमता ग्रस्त बच्चों के लिए निर्धारित नीति के क्रियान्वयन में कुछ स्पष्ट समस्याएँ दिखाई दीं जिनको मैं यहाँ रेखांकित करना चाहूँगी।

मुख्य धारा में लाना या अलग समूहों में सीमित कर देना

समावेशी शिक्षा का अभिप्राय अक्षमता ग्रस्त बच्चों को शिक्षा के दायरे में लाना और चाहे विशेष स्कूलों में या फिर सामान्य स्कूलों में उन्हें उनकी जरूरतों के अनुसार सीखने का उपयुक्त वातावरण देना होता है। साथ ही, सर्व शिक्षा अभियान (एस.एस.ए.) में 'किसी को भी अस्वीकार न करने' की नीति हर बच्चे को शिक्षा का अधिकार देती है और ऐसे बच्चों को स्कूल की मुख्यधारा में शामिल किए जाने का समर्थन करती है। परन्तु संसाधनों के पर्याप्त सहारे के बिना और हर बच्चे पर अलग से ध्यान न दिए जाने से ये बच्चे स्कूलों के भीतर अलग समूहों में सीमित हो जाते हैं।

लमगारा ब्लाक में कोई विशेष स्कूल न होने से विशेष जरूरतों वाले अनेक बच्चे नियमित स्कूलों में ही दाखिला लिए हुए हैं और ज्ञान के स्तरों की दृष्टि से कुछ भी सीखे बगैर कक्षाओं की सीढ़ियाँ चढ़ रहे हैं। मैं स्कूलों के एक निरीक्षण के दौरान एक ऐसे बच्चे से मिली जो पढ़ना, लिखना, बोलना, कुछ भी नहीं कर सकता, पर वह कक्षा 4 में पढ़ रहा है। नियमित स्कूलों में पूर्व–एकीकरण कार्यक्रमों के अभाव तथा अपर्याप्त सहारे के बिना ऐसे बच्चों को मुख्यधारा में शामिल करना महज एक औपचारिकता बन कर रह जाता है।

शिक्षकों की शिक्षा के कार्यक्रम

कक्षाओं में समावेशी वातावरण प्रदान करने के काम में शिक्षकों की शिक्षा एक कमजोर कड़ी बनी हुई है। शिक्षकों की शिक्षा की डिग्री तथा डिप्लोमा कार्यक्रमों में विशेष जरूरतों वाले बच्चों की शिक्षा में विशेषज्ञता हासिल करने का कोई प्रावधान नहीं है। यह ऐसे कार्यक्रमों तथा उनके द्वारा इस विशेष क्षेत्र में शिक्षकों की तैयारी के अत्यधिक महत्त्व को समझने में सरकार की अक्षमता को दर्शाता है।

अल्मोड़ा में कोई विशेष स्कूल न होने के कारण, नियमित शिक्षकों में ऐसे बच्चों की जरूरतों और आकांक्षाओं की

समझ निर्मित करने का महत्त्व बढ़ जाता है। उपयुक्त ज्ञान और प्रशिक्षण के न होने से नियमित शिक्षकों को ऐसी गतिविधियों में संलग्न पाया गया जो ऐसे बच्चों की सर्वांगीण वृद्धि और विकास के लिए नुकसानदायक हैं। स्कूल स्तर पर किए गए एक अवलोकन में देखा गया कि एक शिक्षक ने एक अक्षमता ग्रस्त बच्चे को दूसरे बच्चों से अलग बैठा दिया क्योंकि मध्यान्ह भोजन के दौरान वह अपना खाना उनकी थालियों में फेंककर उन्हें परेशान करता हुआ पाया गया। चूँकि वह कक्षा में दूसरे बच्चों के काम में बाधा डालता है, इसलिए उसे अलग बैठकर काम करना पड़ता है। पर क्या उसका पृथक्करण ऐसी समस्या का सही समाधान है? इस बारे में कोई दो मत नहीं हो सकते कि ऐसे बच्चों को उनके हमउम्र साथियों, शिक्षकों और समुदाय के द्वारा समानुभूतिपूर्वक देखे जाने और स्वीकार किए जाने की आवश्यकता होती है। वे केवल तभी पनप सकते हैं।

सेवाकाल के दौरान शिक्षकों की शिक्षा

शिक्षकों का प्रशिक्षण समावेशी शिक्षा नीति के अन्तर्गत आने वाले उसके नितान्त आवश्यक अंगों में से एक है और यह उसका सबसे चिन्ताजनक पहलू भी है। स्कूल के स्तर पर इस नीति को लागू करने के लिए शिक्षकों में इसके प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण होना बेहद जरूरी है। कक्षाओं के भीतर विविध प्रकार की चुनौतियों का समाधान करने के लिए तथा विशेष जरूरतों वाले बच्चों के सीखने के लिए अनुकूल वातावरण निर्मित करने के लिए शिक्षकों में आवश्यक कौशलों तथा आत्मविश्वास को विकसित करना एक बहुत बड़ा काम है। इसके लिए शिक्षकों को प्रशिक्षण, विशेषज्ञों के सहयोग आदि संसाधनों के पर्याप्त सहारे की आवश्यकता होती है।

सुनने की अक्षमता से ग्रस्त बच्चों की शिक्षा के विशेषज्ञ श्री ब्रजेन्द्र यादव, जो लमगारा में उपलब्ध एकमात्र स्रोत शिक्षक हैं, से बातचीत में मुझे पता चला कि उनके तीन साल के कार्यकाल में समावेशी शिक्षा पर प्रशिक्षण उस ब्लाक में पहली बार 2014 में आयोजित किया गया। इस मुद्दे के प्रति प्रशासन की अगम्भीरता को इस तथ्य से आँका जा सकता है कि 2009 में आर.टी.ई. अधिनियम के पारित हो जाने, और समावेशी शिक्षा नीति को बढ़ी हुई सहायता प्राप्त होने के बाद भी प्रशिक्षणों की संख्या मामूली है और उनकी गुणवत्ता बहुत निम्न स्तर की है।

स्कूलों में सीखने–सिखाने की समावेशी प्रक्रियाओं को कार्यरूप में परिणित करने का सपना साकार करने में शिक्षकों का नकारात्मक रवैया सहायक सिद्ध नहीं होगा। प्रशिक्षण की निम्नस्तरीय गुणवत्ता को शिक्षकों के उदासीन रवैए का एक कारक बताया जा सकता है, परन्तु इस कार्य के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण है अक्षमता के जटिल मुद्दे की समझ निर्मित करने के लिए शिक्षकों की इच्छा होना, जिसमें प्रशिक्षण बहुत उपयोगी हो सकते हैं।

अपर्याप्त स्रोत शिक्षक

सर्व शिक्षा अभियान के अन्तर्गत हर अक्षमता ग्रस्त बच्चे को, पर्याप्त सहायक सेवाएँ उपलब्ध कराते हुए, पास–पड़ोस के स्कूल में दाखिल कराया जाना चाहिए। आर.टी.ई. अधिनियम में ऐसे बच्चों के विशेष प्रशिक्षण, चाहे वह आवासीय हो या गैर–आवासीय, के लिए प्रावधान किया गया है।

श्री यादव को विभिन्न जगहों पर रह रहे 89 अक्षमता ग्रस्त बच्चों की देखरेख करना पड़ती है जिसको निभाना अत्यन्त कठिन कार्य है। पहाड़ी क्षेत्रों की भौगोलिक बाधाओं को देखते हुए कभी–कभी उनके दौरों के बीच में 2 से 6 माह तक बीत जाते हैं। अब हम समझ सकते हैं कि ऐसे बच्चों को किस प्रकार की शैक्षिक सहायता प्राप्त हो रही है और वह किस हद तक उनके लिए लाभकारी सिद्ध हो सकती है। वे स्वयं भी स्वीकार करते हैं कि एक अकेला शिक्षक इन बच्चों के लिए नाकाफी है। वे केवल सुनने की बाधा के विशेषज्ञ हैं, इस कारण से अन्य परेशानियों से ग्रस्त बच्चों की उचित ढंग से देखभाल नहीं हो पाती है।

स्रोत शिक्षकों को अनुबन्ध पर नियुक्त करना अक्षमता ग्रस्त लोगों को सशक्त बनाने की राह में एक अन्य बड़ी रुकावट है। हम इस बात से इंकार नहीं कर सकते कि इन बच्चों को स्रोत शिक्षक से निरन्तर शैक्षिक तथा भावनात्मक सहारे की जरूरत होती है, जिसका अभाव सामाजिक तथा जीवनोपयोगी कौशलों को प्राप्त करने की उनकी सम्भावनाओं को बाधित करता है। श्री ब्रजेन्द्र यादव के शब्दों में, जिनका अनुबन्ध हाल ही में समाप्त हो गया, "हो सकता है कि मैं कभी रहूँ कभी न रहूँ, पर मेरे बच्चे अभी भी वहाँ हैं जिनको हर समय मेरी जरूरत है, उनकी देखभाल कौन करेगा?"

ऐसे बच्चों को घर पर शिक्षा देने वाले प्रशिक्षक या तो उनके माता–पिता होते हैं या समुदाय के शिक्षित सदस्य होते हैं जिन्हें डाइट (जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान) में साल में एक बार प्रशिक्षण दिया जाता है। एक सामान्य गैर–विशेषज्ञ व्यक्ति के लिए अक्षमता ग्रस्त बच्चों तथा

उनके संज्ञानात्मक, भावनात्मक और व्यवहार सम्बन्धी पहलुओं को समझने के लिए ये कुछ दिनों के प्रशिक्षण सत्र काफी नहीं होते। लमगारा के स्रोत शिक्षक के शब्दों में, 'घर पर आधारित शिक्षा तो ज्यादातर सर्व शिक्षा अभियान के अन्तर्गत उसके लिए दिए जाने वाले 500 रु. प्रति माह कमाने का एक साधन बन गई है।'

सहयोग न करने वाले माता–पिता तथा समुदाय

अक्षमता का एक सामाजिक पहलू भी होता है जिसमें परिवार तथा समुदाय अक्षमता ग्रस्त बच्चे की अन्तर्निहित क्षमता को विकसित करने और उसके जीवन के स्वरूप को निर्मित करने में प्रमुख भूमिका निभाते हैं।

समावेशी शिक्षा में यदि ऐसे बच्चों के परिवार सहयोग नहीं देते तो उसकी ओर बढ़ने के सभी प्रयास निष्फल होंगे। श्री यादव के साथ बातचीत में यह बात बहुत मजबूती से निकलकर आई क्योंकि अक्षमता ग्रस्त बच्चों के अधिकांश माता–पिता उनके द्वारा संचालित किए जाने वाले जागरूकता और जानकारी सत्रों में भाग लेने के लिए राजी नहीं होते। वे खुले शब्दों में कहते हैं कि यदि उन्हें पैसा मिलेगा तो वे आएँगे। माता–पिता के ऐसे व्यवहार के पीछे कई कारण हो सकते हैं, जैसे कि गरीबी, बेरोजगारी, निरक्षरता, जागरूकता का अभाव आदि। पहाड़ी क्षेत्रों में रोजगार के अवसरों के न होने की वजह से अधिकांश परिवार दैनिक मजदूरी पर मेहनत के कामों में लगे रहते हैं। उनके लिए एक प्रशिक्षण सत्र में शामिल होने का मतलब उस दिन की कमाई से वंचित होना होता है। इसके अलावा, निरक्षरता और अज्ञान के कारण अक्षमता ग्रस्त बच्चे की स्थिति को कभी–कभी भ्रामक रूप से एक दैवीय आपदा मान लिया जाता है और कहा जाता है कि इसे स्थानीय चिकित्सकों, ओझाओं आदि के द्वारा अच्छा किया जा सकता है।

आगे की राह

ऐसे गम्भीर तथा जटिल मुद्दे के समाधान के लिए कोई एक उपयुक्त निष्कर्ष नहीं हो सकता, लेकिन अल्मोड़ा के लमगारा ब्लाक में इस नीति के शाब्दिक और वास्तविक अर्थ में क्रियान्वयन के लिए कुछ प्रस्ताव सामने रखे जा सकते हैं :

- ऐसे बच्चों के लिए कम से कम 90 दिन के सेतु कार्यक्रम किसी ऐसे निर्धारित स्थान पर संचालित करना जहाँ वे साथ–साथ रह सकें और अध्ययन कर सकें। उनके लिए एक ऐसा दिनचर्या का कार्यक्रम और पाठ्यचर्या होगी जिससे वे अधिक से अधिक लाभ ले सकें।
- प्रशिक्षणों का प्रभावशील न होना उनके प्रति शिक्षकों के अरुचिपूर्ण रवैए का एक कारण हो सकता है। कमरों की चारदीवारियों के भीतर प्रशिक्षणों को संचालित करने के बजाय उन्हें क्षेत्र में ऐसे बच्चों के साथ किया जा सकता है। यह शिक्षकों को ऐसे बच्चों तथा उनकी आवश्यकताओं को समझने के लिए जरूरी आत्मविश्वास प्रदान करेगा।
- ऐसे बच्चों के माता–पिताओं को स्कूल प्रबन्धन समितियों में शामिल करके उनकी भागीदारी सुनिश्चित करना तथा अक्षमता ग्रस्त बच्चों की समस्याओं पर प्रशिक्षण सत्रों को समितियों के कार्यक्रमों में सूचीबद्ध करके निर्धारित करना।
- ऐसे बच्चों के सीखने की उपलब्धियों को बेहतर बनाने के लिए स्रोत शिक्षकों की पर्याप्त संख्या और उनकी निरन्तर उपस्थिति बेहद जरूरी है।
- शिक्षकों की शिक्षा के कार्यक्रमों में 'अक्षमता के अध्ययन' के लिए पर्याप्त स्थान देना।

जयश्री पाण्डे अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन के 2013–15 के बैच की फैलो हैं। वे वीमन एण्ड जेण्डर स्टडीज (महिलाएँ तथा लिंगभेद अध्ययन) में स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त हैं। उन्हें बच्चों से लगाव है और उनका लक्ष्य समाज के वंचित वर्गों के बच्चों के लिए काम करना है। उनसे jayshree.pande@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है।
अनुवाद : भरत त्रिपाठी

भिन्न प्रकार की क्षमताओं वाले बच्चों को शामिल करना

रेमादेवी

एक ऐसे समाज में, जो अक्षमता को वर्तमान के या अतीत के पापों के लिए दिया गया दण्ड मानकर उसे "आस्था" का आयाम दे देता है, अक्षमता ग्रस्त लोगों का समावेश एक लम्बी प्रक्रिया है। आमतौर पर अक्षमता ग्रस्त लोगों के अधिकार के दृष्टिकोण के बजाय उनके प्रति सहानुभूति का भाव हावी रहता है। प्राथमिकता मुख्य रूप से, या केवल उनकी देखरेख, चिकित्सा और पुनर्वास (पुनर्वास ज्यादातर उनको किसी ऐसे संस्थान में भर्ती करने तक सीमित रहता है जो परोपकारी आधारों पर उनकी बुनियादी जरूरतों को पूरा करता है) को दी जाती है, और अक्षमता को व्यक्तियों तथा उनके परिवारों की समस्या के रूप में देखा जाता है।

"मैंने अपने बेटे को जो दुःख दिया है उसके लिए मैं कभी अपने को माफ नहीं कर सकती। जब मुझसे अपने चाचा की अन्त्येष्टि में शामिल न होने के लिए कहा गया तो मैंने क्यों उसकी अवहेलना की? मेरा बच्चा कष्ट उठा रहा है क्योंकि मैंने अपनी अवज्ञा के द्वारा उसे अपाहिज बना दिया।" – एक स्नातक माँ

हालाँकि संविधान के 86वें संशोधन के द्वारा, जिसने शिक्षा को सभी बच्चों का मौलिक अधिकार बना दिया है, भारत सभी के लिए शिक्षा के हेतु प्रतिबद्ध है, परन्तु फिर भी सरकारी तथा निजी, दोनों प्रकार की संस्थाओं में इसके अर्थ, प्रासंगिकता और स्पष्ट परिभाषा के बारे में साफ समझ का अभाव है।

भारत में वर्ग, लिंगभेद, धर्म, रंग आदि की तुलना में अक्षमता को सबसे कम प्राथमिकता दी जाती है। केवल 5% से भी कम अक्षमता ग्रस्त बच्चों ने स्कूलों में दाखिला लिया है (यूनेस्को 2000), और जैसा कि 2004 में किए गए एक सरकारी अध्ययन में उल्लेख किया गया है, केवल 0.51% अक्षमता ग्रस्त बच्चों का मुख्यधारा की शैक्षिक संस्थाओं में स्कूल स्तर पर नामांकन हुआ है (यूनेस्को 2006)। कई अन्य देशों में भी स्थिति इससे बहुत भिन्न नहीं है।

अक्षमता ग्रस्त लोगों के जीविकोपार्जन तथा अन्य सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक प्रक्रियाओं में शामिल किए जाने के बारे में ज्यादा जानकारी और आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं।

इस लेख में की गई चर्चा में वे प्रमुख क्षेत्र शामिल हैं जिन पर विचार करना समावेश के लिए जरूरी है, अर्थात समावेश के मुद्दे का किस प्रकार समाधान किया जाए और उसमें निहित चुनौतियाँ क्या हैं।

समावेश की ओर

यह जरूरी है कि अक्षमता ग्रस्त लोगों के समावेश का मतलब, उनका परिवार में, समुदाय/समाज में, शैक्षिक संस्थाओं में, कार्य में तथा अन्य स्थानों पर भी समावेश होना चाहिए, और उसमें क्षमताओं से सम्बन्धित व्यक्तिगत तथा लिंग–सम्बन्धी समस्याओं का समाधान करने के लिए रणनीतियाँ भी होना चाहिए।

व्यक्तिगत

अक्षमता के कारण स्वतः ही आत्मविश्वास का अभाव हो जाता है, और यह प्रयोग करने के तथा छानबीन करने के अवसरों तक, अपने हमउम्र अन्य बच्चों की तुलना में, ऐसे बच्चों की पहुँच को सीमित कर देती है। उनकी अन्तर्निहित क्षमताओं को यथार्थ में साकार करने के लिए उन्हें अपने हमउम्र साथियों तथा वयस्क लोगों, दोनों के द्वारा अपेक्षित प्रेरक प्रोत्साहन भी नहीं मिलता। मजबूरी के कारण दूसरों पर निर्भरता की जिस स्थिति में वे फँसे रहते हैं और उसकी वजह से जिस भेदभाव का अनुभव करते हैं, उसके परिणामस्वरूप उनको किसी काबिल न होने के भाव, हताशा, शर्मिन्दगी, आदि का एहसास होता है जो उनके व्यक्तिगत तथा सामाजिक विकास को प्रभावित करता है।

लिंगभेद सम्बन्धी प्रभाव

"सामान्य" दुनिया से उन्हें जो नकारात्मक प्रतिक्रियाएँ मिलती हैं, उनके फलस्वरूप उनमें, विशेष रूप से लड़कियों में, मुझसे "दूर रहो" वाला एक रवैया, एक प्रकार का आत्म–बहिष्कार, पैदा हो जाता है। एक अक्षमता ग्रस्त लड़की आमतौर पर उन लोगों के द्वारा यौनिक शोषण का आसान शिकार बन जाती है जो सामान्यतया उसकी मदद करने के लिए खुद आगे आते हैं।

> "मुझे झूलना बहुत अच्छा लगता है। जब मैं छोटी थी तो मेरी माँ मुझे पास के पार्क में ले जाती थी। जब मैं बड़ी होने लगी तो मुझे मेरी पहियों वाली कुर्सी से उठाकर झूले तक ले जाने के लिए हम आसपास के आदमियों से मदद लेने लगे, क्योंकि मेरी माँ और अन्य महिलाओं के लिए वह मुश्किल हो गया था। लेकिन धीरे–धीरे मुझे मदद करने के लिए आगे आने वाले कुछ आदमियों के गलत ढंग से छूने का एहसास होने लगा। मैं कोई प्रतिक्रिया नहीं कर सकती थी क्योंकि वे एहसान कर रहे थे। इसलिए मैंने अब आगे न झूलने का फैसला कर लिया, हालाँकि मुझे अभी भी वह बहुत अच्छा लगता है।"
>
> -सेरीब्रल पाल्सी से पीड़ित एक 14 साल की लड़की

परिवार से जुड़े प्रभाव

परिवार में व्याप्त भावनाएँ, जो परिस्थिति को नकारने से लेकर, आत्म–दया तक तथा नीमहकीमों से लेकर चमत्कारों पर विश्वास करने तक की हो सकती हैं, आमतौर पर विशेष बच्चे से जुड़ी वास्तविकताओं को स्वीकार करने में लम्बा समय लेती हैं। परिवारों में अकसर ऐसे बच्चे की जरूरतों को पूरा करने के लिए आवश्यक जानकारी और कौशलों तथा उनके भविष्य के सम्बन्ध में आवश्यक दूरदृष्टि का अभाव रहता है। इसके फलस्वरूप या तो अक्षमता ग्रस्त बच्चे की जरूरत से ज्यादा सुरक्षा की जाती है, या उसे स्वीकार करने के प्रति नकारात्मकता की प्रवृत्ति पैदा होती है, और ये दोनों ही समान रूप से हानिकारक हैं, क्योंकि इनसे बच्चे को उपयुक्त देखभाल और सहारा मिलने की सम्भावना कम हो जाती है। इस परिदृश्य को वित्तीय समस्याएँ और कठिन बना देती हैं, साथ ही परिवार, विशेष रूप से माताओं पर, शारीरिक, भावनात्मक और सामाजिक बोझ बहुत बढ़ जाता है।

शिक्षा से सम्बन्धित प्रभाव

शिक्षा और गरीबी, दोनों एक–दूसरे से जुड़े हैं, और "अक्षमता को गरीबी का कारण और उसका प्रभाव, दोनों तरह से देखा जा सकता है, तथा अक्षमता ग्रस्त लोगों के लिए उपलब्ध दयनीय शैक्षिक अवसरों का इस पारस्परिक सम्बन्ध को बनाए रखने में प्रमुख योगदान होता है।" (गुडलैड, 2005)

भारत के अधिकांश स्कूलों, चाहे वे शहरी हों या ग्रामीण, में संसाधनों (जिनमें ऐसे बच्चों की विशेष जरूरतों को पूरा करने के लिए योग्य प्रशिक्षित शिक्षक तथा बुनियादी भौतिक सुविधाएँ शामिल रहती हैं) का अभाव रहता है, जिसका परिणाम शिक्षा की निम्नस्तरीय गुणवत्ता तथा बच्चों के बीच में स्कूल छोड़ देने की ऊँची दर होती है।

अक्षमता ग्रस्त बच्चों को शिक्षित करने का प्रचलित उद्देश्य उनको ऐसे सामाजिक, सांस्कृतिक परिवेश से तालमेल बिठाने के लिए तैयार करना होता है जो वास्तव में सामान्य लोगों की जरूरतें पूरी करने के लिए निर्मित किया जाता है। (शर्मा 2002, पृ. 407)

उच्च शिक्षा में अक्षमता ग्रस्त युवाओं के नामांकन का, उनके लिए 3% आरक्षण के बाद भी, बहुत कम होना अभी तक जारी है, क्योंकि उन पर सामान्य पृष्ठभूमियों से आए विद्यार्थियों से स्पर्धा करने का दबाव होता है। उनकी विशेष स्कूल की पृष्ठभूमि की तुलना में सामान्य विद्यार्थी बेहतर स्थिति में होते हैं, इसलिए ऐसी स्पर्धा का परिणाम ऐसे बच्चों में हीन भावना पैदा करना और सामंजस्य की समस्याएँ हो सकती हैं। शैक्षिक संस्था से दूरी, अक्षमता ग्रस्त लोगों के अनुकूल सुगम परिवहन और अधोसंरचना सुविधाओं का न होना और साथ ही विभिन्न पाठ्यक्रमों की शैक्षिक आवश्यकताओं को पूरा करने की उनकी शारीरिक/मानसिक सीमाएँ आदि ये इसे और दुष्कर बना देते हैं।

समुदाय/समाज से जुड़े प्रभाव

अक्षमता का सामाजिक प्रतिरूप (ऑलिवर, 1990) इस दृष्टिकोण को निरूपित करता है कि यह जरूरी नहीं है कि कोई कमी या दुर्बलता व्यक्ति को अक्षम बना दे। कुछ कमियाँ निस्सन्देह किसी व्यक्ति के दैनिक जीवन को प्रभावित करती हैं, उदाहरण के लिए, कोई आँखों की खराबी, कोई लगातार बिगड़ती हुई दशा, सीखने की कठिनाई या कोई मानसिक स्वास्थ्य की कठिनाई उनसे ग्रस्त लोगों के लिए तब व्यवहारिक और आर्थिक समस्याएँ खड़ी कर सकते हैं जब वे सामाजिक अनुभव के सभी पहलुओं में पूरी तरह भाग लेने की कोशिश कर रहे होते हैं। परन्तु, फिर भी सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और

भौतिक वातावरण के पहलू यह तय करने में प्रमुख भूमिका निभाते हैं कि किसी कमी के परिणामस्वरूप व्यक्ति किस हद तक सामाजिक रूप से बाहर हो जाता है।

मनोवैज्ञानिक सामाजिक प्रभाव

अक्षमता ग्रस्त बच्चों की आत्म–छवि आमतौर पर हीनता भरी होती है, जिसका मुख्य कारण उनका अक्षम होना होता है। अपने हमउम्र साथियों के समकक्ष प्रदर्शन न कर पाना, सामाजिक रूप से कटा होना, अलग तरह का वह व्यवहार जो परिवार और समाज उनके साथ करता है, अकेला होने का भाव, उत्साह, प्रेरणा तथा अभीप्सा की कमी आदि, वे अन्य प्रमुख कारक हैं जो अशक्तता की इस हालत को और बढ़ाने में योगदान देते हैं। उनकी अक्षमता उन्हें उन अवसरों से दूर रखती हैं जो उनके हमउम्र साथियों को आसानी से उपलब्ध रहते हैं।

जीविका सम्बन्धी प्रभाव

यह अपेक्षाकृत एक उपेक्षित क्षेत्र है, आमतौर पर जिसका कारण अक्षमता ग्रस्त लोगों के प्रति दया तथा दान के रवैए का हावी रहना होता है। उनकी अन्तर्निहित क्षमता और योग्यता की कमी का मूल्यांकन करने के लिए स्वयं उनमें पर्याप्त चेतना और कौशलों का अभाव तो रहता ही है, इसके साथ ही समाज भी, उनकी कुछ करने में सहायता करने या उन्हें अपने काम खुद करने देने के बजाय, उनके प्रति सहानुभूति और उनके "लिए" कुछ करने की इच्छा का एक कवच जैसा बना लेता है।

इस आयाम में शोध अध्ययनों का न होना तथा अक्षमता ग्रस्त लोगों के लिए नौकरियों की व्यवस्थित योजना का अभाव इस समस्या को और गम्भीर बना देता है। सरकार की ओर से प्रोत्साहन के रूप में कुछ लाभ दिए जाने के वायदों के बाद भी, रोजगार देने वाले लोग अक्षमता ग्रस्त लोगों का समावेश करने के इच्छुक नहीं होते। श्रमशक्ति का बाजार, जो सबसे योग्य के बचे रहने के सिद्धान्त पर काम कर रहा है, "अयोग्य लोगों" की उपेक्षा करता है। अनेक रोजगार देने वाले इन लोगों के समावेश की जरूरत से सहमत होते हैं, लेकिन उनमें इस राय को अमल में लाने के बारे में बचने के बहाने ढूँढ़ने की प्रवृत्ति होती है। दूसरी ओर अक्षमता ग्रस्त लोगों से सस्ता श्रम प्राप्त करने की प्रवृत्ति भी देखी जाती है।

रोजगार देने वालों की अपेक्षाओं और ऐसे विशेष कर्मचारियों के कौशलों तथा क्षमताओं के बीच की खाई को समझने और पाटने के बारे में अधिक ध्यान नहीं दिया गया है।

समावेश को कैसे सम्भव बनाया जा सकता है

विकासशील देशों में इस क्षेत्र में किए जाने वाले सुधार प्रयास इस मान्यता के आधार पर निर्मित किए जाते हैं कि अक्षमता ग्रस्त लोगों की जरूरतों के प्रति प्राथमिक उत्तरदायित्व उन्हें लम्बे समय तक कल्याणकारी सहायता देना होना चाहिए (लैंग एवं उपाह, 2008)। यह खुद इस धारणा से निकला है कि अक्षमता ग्रस्त व्यक्ति उत्पादक नहीं हो सकते और उनकी देखभाल की जाने की जरूरत रहती है। पर, सामाजिक प्रतिरूप, जो अक्षमता को समाज के एक अविभाज्य और सामान्य अंग की तरह मानता है, को अभी तक व्यापक हो सकने लायक समर्थन नहीं मिल पाया है और वह आबादी के बहुसंख्यक हिस्से तक नहीं पहुँचा है। किसी भी सामाजिक परिवर्तन को लाने में लोगों के दृष्टिकोण, विश्वास और आचरण की आदतें प्रमुख भूमिका निभाती हैं और यह बात अक्षमता के बारे में भी सत्य है। इसलिए, लोगों के दृष्टिकोणों, विश्वासों, आचरणों और पूर्वाग्रहों को समझना और उन्हें उचित ढंग से सम्बोधित करके उनका समाधान निकालना –इसे समावेश की प्रक्रिया का पहला कदम बनाना जरूरी है।

आत्म–बहिष्कार तथा लिंगभेद की समस्याओं पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है। ऐसे व्यक्तियों की हीन आत्म–छवि को सुधारने की गतिविधियाँ और उनके साथ उनके अधिकारों की चेतना को निर्मित करना तथा "सामान्य" नागरिकों को उनके कर्तव्यों के प्रति जागरूक बनाना, यही इस समय की तात्कालिक आवश्यकता है।

अक्षमता ग्रस्त बच्चों के माता–पिता तथा परिवार समावेश को सम्भव बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं, लेकिन उनके पास इसके लिए आवश्यक जानकारी, कौशल और समय का अभाव रहता है। हालाँकि कुछ गैर–सरकारी स्वैच्छिक संगठनों ने पालकों को उनके आश्रितों के समावेश के लिए कार्य करने के काबिल बनाने के लिए उनकी योग्यता निर्मित करने के कार्यक्रम आरम्भ किए हैं, पर इन स्वैच्छिक संगठनों की बाहरी आर्थिक सहायता पर निर्भरता को देखते हुए इन कार्यक्रमों के लम्बे समय तक चल सकने की कोई गारण्टी नहीं है। इसके समाधान के तौर पर सिफारिश की जा सकती है कि स्थानीय शासन के निकायों को इन मुद्दों को अपनी नियमित कार्यसूची में शामिल करना चाहिए।

ये कुछ अन्य क्षेत्र हैं जिन पर ध्यान दिए जाने की जरूरत है: अक्षमता अधिनियम (डिसएबिलिटी एक्ट) को तथा 12वीं पंचवर्षीय योजना में सूचीबद्ध कार्यक्रमों को कारगर तरीके से लागू किया जाना, उचित रोजगार योजना, अक्षमता ग्रस्त व्यक्तियों के कौशलों और रोजगार के बाजार के बीच की खाई को पाटना, और सम्भावित रोजगार देने वालों को ऐसे व्यक्तियों के प्रति संवेदनशील बनाना।

चुनौतियाँ

पहुँच, अधोसंरचना या बुनियादी सुविधाएँ तथा अक्षमता ग्रस्त लोगों का सहज स्वीकार किया जाना, ये ही समावेश की राह में प्रमुख अड़चनें हैं। उचित शोध का अभाव भी इसमें योगदान देता है। इस क्षेत्र में काम करने वाले अनेक संगठनों में अक्षमता के मुद्दे के बारे में सर्वांगीण दृष्टिकोण की कमी रहती है। उनकी गतिविधियाँ ज्यादा करके अपने हितग्राहियों को अर्ध–कौशलों वाले कामों जैसे मोबाइल या आटोमोबाइल मैकेनिक, होटलों को सामान की आपूर्ति करने वाले, टेलीफोन/लिफ्ट संचालित करने वाले आदि के लिए तैयार करने तक सीमित रहती हैं। स्कूलों में उत्साही, प्रशिक्षित और कौशलों में निपुण शिक्षकों का अभाव तथा कार्यस्थलों पर संवेदनशील रोजगार देने वालों और साथी कामगारों का अभाव इस कार्य की अन्य चुनौतियाँ हैं।

References

1. An Eco systematic approach for understanding inclusive education- An Indian Case study, Nidhi Singal, European Journal of Psychology of Education, Vol. 21, No. 3 (September 2006), pp. 239-252
2. New Labour, Social Justice and Disabled students in Higher Education, British Educational Research Journal, Vol. 31, No. 5, Sheela Diddell, Teresa Tinklin and Alasta Wilson. Education Policy and Social Justice (Oct., 2005), pp. 623-643
3. Inclusive Education Environments from the Teachers' Perspective: An Inquiry in a Turkish Primary School
 Selen Durak, Mualla Erkiliç, Children, Youth and Environments, Vol. 22, No. 1 (Spring 2012), pp. 304-313
4. Towards socio-spatial inclusion? Disabled people, neoliberalism and the contemporary labour market Robert Wilton and Stephanie Schuer School of Geography and Earth Sciences, McMaster University, Hamilton, Ontario, Canada L8S 4M1

रेमादेवी टी. सोशल वर्क में पोस्ट–ग्रेजुएट हैं। वर्तमान में वे अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय के एम.ए.(विकास) कार्यक्रम में क्षेत्र प्रशिक्षण तथा प्रायोगिक परियोजनाओं का संयोजन कर रही हैं। इस कार्य से पहले उन्होंने अक्षमता ग्रस्त लोगों तथा विशेष जरूरतों वाले बच्चों से जुड़े कुछ संगठनों के साथ कार्य किया था। इसके अलावा, उन्होंने विभिन्न राज्यों में अलग–अलग नागरिक समाज संगठनों के साथ भी काम किया है। उनसे remadevi.t@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : सत्येन्द्र त्रिपाठी

निष्पक्षता का केन्द्रीकरण, विविधता का उत्सव: शैक्षणिक व्यवस्था में समावेशन

वन्दना महाजन

लड़कियों के लिए समावेशी शिक्षा की ताकतः

"पर लगा लिए हैं हमने

पिंजरों में कौन बैठेगा

जरा सुन लो"[i]

–*"मेरी इच्छा है कि मैं अपने माता–पिता की योग्य बेटी कहलाऊँ"*

–*"मैं अपने इलाके की पहली ग्रैजुएट हूँ"*[ii]

–*"अपना नाम कमाऊँ पर कुछ गलत न कर जाऊँ, इससे डर जाती हूँ। उम्मीद यही रखती हूँ कि अब मौका मिला है तो कुछ करके दिखाऊँगी"*

–*"डरपोक और भीगी बिल्ली की पहचान को छोड़कर, पर्दों से बाहर निकलने का सफर है मेरा"*

–*"मैंने सवाल उठाना तय किया है; बेशरम बनना तय किया है मैंने''*

ये झारखण्ड, यूपी और बिहार की कुछ युवा महिलाओं की आवाजें हैं, जिनसे 'महिलाओं की समानता हेतु शिक्षा' (जिसे लोकप्रिय रूप से महिला समाख्या कार्यक्रम कहा जाता है) नामक राष्ट्रीय महिला और बालिका सशक्तीकरण कार्यक्रम के राष्ट्रीय स्रोत समूह की सदस्य के रूप में मैं हाल ही में मिली थी। ये ख्याल और अभिलाषाएँ जो एक सशक्त और जीवन्त क्रियाशीलता के बोध को व्यक्त करती हैं, इन लड़कियों के अनुभव से निकल रही हैं जिन्हें छोटी उम्र में ही स्कूलों से हटा दिए जाने के बाद फिर से शिक्षा हासिल करने और स्कूली जीवन का मजा लेने का एक और मौका मिला। ऐसी हजारों लड़कियों को महिला समाख्या कार्यक्रम के तहत चलाए जाने वाले महिला शिक्षण केन्द्र (एम.एस.के.) नामक एक शैक्षणिक सेतु पाठ्यक्रम कार्यक्रम[iii] में पढ़ने के बाद मुख्यधारा की प्राथमिक शिक्षा से पुनः जुड़ने का मौका मिला।

यदि महिला समाख्या जैसे कार्यक्रम नहीं होते तो समाज के बेहद गरीब और हाशियों तक सीमित तबकों की इन लड़कियों की आकांक्षाएँ और अभिलाषाएँ अधूरी रह जातीं या दमनकारी और बहिष्कारी सामाजिक–सांस्कृतिक मानकों द्वारा दबा दी जातीं। एम.एस.के. में निष्पक्षता और सर्वसमावेशन के जिन सिद्धान्तों का पालन किया जाता है, उनकी बदौलत लड़कियों में आत्मविश्वास का, खुद की एक सशक्त पहचान और कल्याण का बोध विकसित होता है।

शिक्षा में जाति आधारित भेदभाव

ऐसा माना जाता है कि अधिक न्यायोचित सामाजिक सम्बन्धों को बढ़ावा देने में शिक्षा एक उत्प्रेरक की तरह काम करती है, फिर भी स्कूल और कक्षाएँ प्रगट या छिपे हुए पूर्वाग्रहों और पक्षपातपूर्ण व्यवहार से पूर्णतः मुक्त नहीं हैं। शिक्षा का अधिकार अधिनियम ने समाज के सबसे

[i] *An excerpt from a popularly sung women's empowerment song from the song book produced by Jagori - a Delhi-based feminist resource organisation.*

[ii] *From Saraikela district of Jharkhand*

[iii] *Mahila Samkhya is a national programme under the aegis of the department of education, Ministry of human resource development of Government of India. It is currently running in 9 states of India.*

निचले तबकों के लिए भी शिक्षा को सुलभ तो बनाया है, लेकिन यह कानून शिक्षकों और शैक्षणिक समुदाय के अन्य सदस्यों द्वारा हाशियाग्रस्त वर्गों के बच्चों के साथ किए जाने वाले भेदभाव और अपमानजनक व्यवहार को रोकने में विफल रहा है। ये अप्रैल 2014 में प्रकाशित हुई मानवाधिकार निगरानी समूह की रिपोर्ट के प्रमुख निष्कर्षों में से हैं। 'वे कहते हैं कि हम गंदे हैंः भारत में हाशिए पर रह रहे लोगों को शिक्षा से वंचित रखना' शीर्षक से जारी हुई यह रिपोर्ट चार राज्यों (दिल्ली, यूपी, बिहार और आंध्रप्रदेश) में दलितों, आदिवासियों और मुस्लिम बच्चों के खिलाफ स्कूल प्रशासन द्वारा किए जाने वाले भेदभाव का विवरण प्रस्तुत करती है। इस रिपोर्ट में शौचालयों को साफ करने से लेकर कक्षा में अलग बैठाए जाने तक, स्कूलों में अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के बच्चों के साथ लगातार होने वाले भेदभाव का विवरण दिया गया है। रिपोर्ट में कहा गया है कि भेदभाव भरा यह व्यवहार एक अप्रिय वातावरण निर्मित कर देता है जिसके कारण ये बच्चे स्कूल से गैर–हाजिर रहने लगते हैं और अन्ततः स्कूल जाना पूर्णतः बन्द कर देते हैं।

बिहार में, अत्यधिक गहरी जड़ें जमाए सामाजिक बहिष्करण की समस्या को सुलझाने के लिए उत्थान कार्यक्रम के तहत चलाई गई एक सामुदायिक परियोजना ने महादलित (मुसहर) समुदाय के लिए और प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में इस सर्वाधिक हाशियाग्रस्त सामाजिक समूह की भागीदारी को सुनिश्चित करने के लिए लक्ष्य–केन्द्रित प्रयास प्रारम्भ किए थे। बिहार में ही, एक अन्य कार्यक्रम, 'हुनर' मुस्लिम लड़कियों को व्यावसायिक शिक्षा के मौके प्रदान करता है। ये कार्यक्रम समावेशी शिक्षा प्रणाली के अच्छे उदाहरण हैं।

मुख्यधारा की भाषाओं और देशज तथा बच्चे की पहली भाषा के बीच निष्क्रिय सम्बन्ध

हमारी शैक्षणिक व्यवस्था में एक और अलगाव पैदा करने वाला चलन है बच्चे की घरेलू भाषा की अनदेखी करना और राज्य द्वारा प्रायोजित केन्द्रीकृत पाठ्यक्रम तथा शिक्षण पद्धतियों के माध्यम से कुछ प्रबल भाषाओं का भाषाई आधिपत्य स्थापित करना। शोधकार्य दर्शाते हैं कि द्विभाषावाद और बहुभाषावाद के फायदे बच्चों की शैक्षणिक सफलता, सफलता पाने के लिए उनकी प्रेरणा, अपने परिवार व समुदाय के साथ उनके जुड़ाव तथा उनके कल्याण के रूप में दिखाई देते हैं (वेन–जुई और चाइन–चन्ग, 2010; क्लार्क, 2009)। इसके उलट जब बच्चे अपनी पहली भाषा के विकास से वंचित रह जाते हैं या उसमें व्यवधान आ जाता है तो पहली भाषा का उपयोग किए बिना अपनी सांस्कृतिक विरासत और पारिवारिक मूल्यों से जुड़ना उनके लिए बहुत मुश्किल हो सकता है। इसकी वजह से बच्चे खुद को परिवार या सामुदायिक समूहों से बहिष्कृत महसूस कर सकते हैं, और उन्हें अपनी पहली और दूसरी (या अतिरिक्त) भाषा के बीच कोई जुड़ाव महसूस नहीं होता (याजिची, इटलर और ग्लोवर, 2010)।

उड़ीसा के चार आदिवासी समुदायों के बच्चों के लिए शैक्षणिक सेवाओं[iv] के स्थितिगत विश्लेषण की प्रक्रिया से पता चला कि प्रमुख आदिवासी समुदायों के प्राथमिक स्कूलों में और प्रारम्भिक बाल्यावस्था की देखभाल और शिक्षा (ई.सी.सी.ई.) केन्द्रों में बच्चों के बीच कोई बहुत ज्यादा विविधता नहीं थी, न तो भाषाई रूप से और न ही दूसरे आदिवासी वर्गों की उपस्थिति के मामले में। बच्चे एक ही प्रभावशाली आदिवासी समुदाय के थे और अपनी घरेलू भाषा बोलते थे। लेकिन, ई.सी.सी.ई. शिक्षक उड़िया माध्यम से पढ़ाने के लिए प्रशिक्षित थे। वे बच्चों की घरेलू भाषा बोलने और पढ़ने में सहज नहीं थे, न ही उन्हें सीखने–सिखाने के लिए इतना सहयोग प्राप्त था कि वे कक्षा में होने वाली गतिविधियों को बच्चों की घरेलू भाषा में संचालित कर पाते और बच्चे की भाषा तथा राजकीय भाषा अर्थात उड़िया के बीच कुशलतापूर्वक सेतु बना पाते।

उड़ीसा राज्य शिक्षा विभाग की तकनीकी शैक्षणिक भागीदार एजेंसी, ईआरजी–इगनस ने आदिवासी बच्चों के लिए समावेशी ई.सी.सी.ई. शिक्षा हेतु चार आदिवासी

[iv] *The state education department of Orissa government had hired Delhi-based IGNUS-ERG team, for developing the ECCE curriculum in four tribal languages. This project was supported by BVLF.*

भाषाओं में सन्दर्भ–आधारित पाठ्यसामग्री विकसित करने और मातृभाषा–आधारित ई.सी.सी.ई. पाठ्यक्रम का उपयोग करने के लिए शिक्षकों को प्रशिक्षण देने जैसे प्रयास किए थे।

ऊपर उल्लिखित अनुभव हमें ज्यादा बड़े सवाल पर सोचने को मजबूर करते हैं –

बच्चों (लड़कों और लड़कियों) की धार्मिक, क्षेत्रीय, भाषाई, जातीय, वर्गीय, लैंगिक और सांस्कृतिक पहचानों की बहुलता को देखते हुए, हमारे शैक्षणिक कार्यक्रम उन बच्चों की विकासात्मक जरूरतों को पूरा करने में क्यों विफल हो जाते हैं जो 'मुख्यधारा' की पहचान के प्रबल विमर्श में माकूल नहीं बैठते। इसके अलावा हमारे सामने कुछ और गम्भीर मुद्दे हैं जैसे शिक्षा तक सब बच्चों की निष्पक्ष पहुँच न होना तथा बच्चों की उम्र व उनकी शारीरिक, सामाजिक और मानसिक क्षमताओं से जुड़ी विभिन्नताओं और विविधताओं को स्वीकार न कर पाना। हमारे इर्द–गिर्द इतनी विभिन्नता और विविधता है कि यह कहना असम्भव है कि क्या सामान्य है और क्या मुख्यधारा!

इसलिए यह बेहद आवश्यक है कि हम शिक्षा में निष्पक्षता को तथा हमारे देश में व्याप्त बहुलता और विविधता को मद्देनजर रखते हुए समावेश शब्द की समझ को व्यापक करें। विविधता की संस्कृति न सिर्फ अलग–अलग लिंग, जाति और संस्कृति के व्यक्तियों के बीच व्याप्त असंख्य भिन्नताओं को, बल्कि अलग–अलग भाषाओं, धर्मों, मूल्यों, क्षमताओं, सामाजिक–आर्थिक स्तरों और लोगों को एक–दूसरे से अलग करने वाले किसी भी अन्य पहलू को भी एक जोड़ने वाले सूत्र में निबद्ध कर देती है। जब हम एक साथ मिलकर एक–दूसरे की जिन्दगियों में सहयोग और योगदान करते हैं, तो यह सबसे जरूरी है कि हम समावेशी रवैया अपनाकर विविधता को स्वीकार करें, समझें और संरक्षण प्रदान करें तथा विभिन्नताओं का उत्सव मनाएँ, उनका आनन्द लें। समावेश की ऐसी धारणा यह सुनिश्चित करेगी कि हमारी शैक्षणिक व्यवस्था में भेदभाव की कोई जगह न रहे और समाज के विभिन्न तबकों के लिए शिक्षा तक पहुँच के तथा आकांक्षाओं और परिणामों के ऊँच–नीच वाले क्रम नहीं बनें। परिभाषा कोई भी हो, शिक्षा में निष्पक्षता के लिए आवश्यक है सर्वसमावेशन, सशक्तीकरण, सम्मान, न्याय, अपनत्व का एहसास और किसी भी तरह का भेदभाव न होना।

समावेशी सोच में इस बात को स्वीकार किया जाता है कि सहभागिता, सबकी पहुँच और सीखने के मौकों की राह में मौजूदा परिवेश रुकावटें खड़ी करता है और समावेशन की सोच का लक्ष्य इन रुकावटों को कम करना होता है। समावेशी सोच सभी को एक ही साँचे में ढालने की कोशिश करने के बजाय विभिन्नताओं को स्वीकार करती है। लेकिन एक तरफ भिन्नताओं को स्वीकार करना और दूसरी तरफ असमानता को बढ़ावा देना, इन दोनों का मतलब एक नहीं माना जा सकता।

पॉवेल (1994) कहते हैं कि शिक्षा के भीतर सर्वाधिक समावेशी ढंग से "निष्पक्षता" के होने का अर्थ है कि हर एक विद्यार्थी का अलग से ध्यान रखा जाए और उसे शिक्षण के ऐसे तरीके, विषयवस्तु और पद्धतियाँ मुहैया कराई जाएँ जो उसकी विशेष जरूरतों, सशक्त पहलुओं और रुचियों के अनुकूल हों। सभी विद्यार्थियों को ऐसे स्कूली परिवेश में सार्थक ढंग से सिखाया जाएगा जहाँ भिन्नताओं को महत्त्व दिया जाता है और विद्यार्थियों को प्रेरित किया जाता है कि वे सीखने की प्रक्रिया में सक्रिय ढंग से भागीदारी करें।

सम्भावनाओं की झलक : समावेशी शैक्षणिक पद्धति के उदाहरण

राष्ट्रीय तौर पर ऐसे कई व्याख्यात्मक उदाहरण हैं जहाँ परियोजना–उन्मुख नीतियों ने स्कूली स्तर या संकुल स्तर के प्रयासों को काफी मदद दी है ताकि शिक्षा व्यवस्था में सर्वाधिक वंचित बच्चों का समावेश सुनिश्चित हो सके। एक लक्ष्य–केन्द्रित सुरचित कार्यक्रम (के.जी.बी.वी.), एक प्रेरित जिला कार्यालय, क्रियान्वयन करने वाले उत्साहित और संवेदनशील भागीदार (एन.जी.ओ. या महिला समाख्या), इन सबका गठजोड़ लड़कियों के लिए एक ऐसा सुप्रबन्धित रहवासी स्कूल बनाने में मदद कर सकता है जो मुख्यतः उन्हें सशक्त बनाने और उनकी क्षमताएँ बढ़ाने वाली प्रक्रियाओं पर चलता रहे।

किसी स्थानीय उद्योग या एन.जी.ओ. के साथ साझेदारी, कर्नाटक की लर्निंग गारण्टी प्रोग्राम जैसी परियोजनाएँ, नम्मा शाले और इंस्टीट्यूशनल कैपेसिटी डेवलपमैण्ट, बिहार में हुनर और उत्थान, विभिन्न राज्यों में महिला समाख्या तथा मीन मन्च जैसे महिला सशक्तीकरण से जुड़े मुद्दों पर काम करने वाले विशेष सरकारी कार्यक्रमों/परियोजनाओं ने बेहद गरीब और साधनहीन परिवारों के लड़के–लड़कियों तक पहुँचने और उन्हें सीखने के लिए जरूरी सहयोग देने में मदद की है। इन प्रयासों ने ऐसी प्रक्रियाएँ तैयार कीं जिनके माध्यम से लोग, स्कूल, प्रशासन और बाहरी स्रोत (एन.जी.ओ., सी.एस.आर. गतिविधि) साथ में आ सकें और विभिन्न स्तरों पर स्कूली प्रक्रियाओं का किसी किस्म का साझा स्वामित्व ले सकें।[v]

लेकिन, ऐसी सभी परियोजनाओं की सफलता सक्रिय और बेहद प्रेरित तथा लक्ष्य के प्रति सजग प्रधान शिक्षक, अच्छे शिक्षकों के समूह तथा लोगों की स्वाभाविक भागीदारी व जुड़ाव और राजनैतिक रूप से जिम्मेदार शैक्षणिक प्रशासन जैसे तमाम कारकों के संयोजन पर निर्भर करती है। ऐसी नूतन परियोजनाओं से जो सीख मिलती है उसे मुख्यधारा के सरकारी शैक्षणिक कार्यक्रम द्वारा आत्मसात किए जाने की जरूरत है।

अत्यन्त वंचित बच्चों के प्रति शिक्षकों की संवेदनशीलता तथा प्रधानाध्यापक/प्रधानाध्यापिका की व्यक्तिगत प्रेरणा एक सुप्रबन्धित, संवेदनशील और संलग्न स्कूल का बुनियादी सूत्र है। निष्पक्ष शिक्षा देने की जिम्मेदारी का दायित्व शिक्षक पर होता है। शिक्षक प्रशिक्षण और शैक्षणिक नेतृत्व प्रबन्धन कार्यक्रमों के क्षेत्र में जबरदस्त गुंजाइश और मौके हैं कि शिक्षकों के ज्ञान, कौशलों और क्षमताओं को सार्थक व संवेदनशील ढंग से आगे बढ़ाया जाए ताकि वे समाज के कमजोर और वंचित वर्गों के बच्चों के विविधतापूर्ण विकास में और उनकी शैक्षणिक जरूरतों को पूरा करने में सहयोग दे सकें।

शिक्षकों तथा सुविधाहीन पृष्ठभूमियों के विद्यार्थियों के बीच पारस्परिक शक्ति सम्बन्ध में संवेदनशील होना इस समय की सबसे बड़ी जरूरत है। यह तभी हो सकता है जब शिक्षक अपने पढ़ाने के ढंग में इस तरह से सुधार करें कि विविध जातीय, सांस्कृतिक, लैंगिक और सामाजिक वर्ग समूहों से आने वाले विद्यार्थियों को शैक्षणिक उपलब्धियाँ हासिल होना शुरू हों (बैंक्स, 2004)। साथ ही शिक्षकों को ऐसे प्रगतिवादी शैक्षणिक प्रशासन का सहयोग मिले जो हमारे संविधान में वर्णित आधारभूत मूल्यों और सिद्धान्तों को कायम रखने के लिए राजनैतिक रूप से प्रतिबद्ध हो।

"जब आप किसी बच्चे का स्कूल में नामांकन करते हैं, तो दरअसल आप पूरे परिवार का नामांकन करते हैं"

(इम्टॉअल, कैमेनिअर और ब्रैडले, 2009)। डी.पी.ई.पी., एस.एस.ए. और गैर सरकारी शैक्षणिक कार्यक्रमों के तहत चलने वाली परियोजनाओं के ऐसे कई अध्ययन और नतीजे हैं जो दिखाते हैं कि स्कूल में माता–पिता की अधिक भागीदारी और स्कूल–पालक–समुदाय के ज्यादा नजदीकी सम्बन्ध गुणवत्ता को सुधारने में, और इस तरह से, सीखने के नतीजों को सुधारने में मदद कर सकते हैं। समुदाय के सदस्यों में स्कूल को लेकर गर्व और स्वामित्व की एक भावना दिखाई देती है। इसका अर्थ होगा कि शिक्षक और प्रधान शिक्षक को ऐसी क्षमताएँ निर्मित करने के अवसर दिए जाएँ कि वे बच्चों के परिवारों और लोगों के साथ सशक्त और आदरभाव पर आधारित साझेदारियाँ स्थापित कर सकें ताकि बच्चों के सीखने के लिए और विकास के लिए बेहतरीन सहयोग दिया जा सके। साथ ही निष्पक्ष व गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान करने में आने वाली रुकावटों को पहचानने व उन्हें दूर करने की परस्पर जवाबदेह प्रक्रियाएँ तैयार की जा सकें।

जीवन में आने वाली परिस्थितियों के प्रति हमारे दृष्टिकोण में समावेशी होने के लिए ऐसा संवाद जरूरी है जो

[v] *These good practices were part of the research study entitled, 'School Management for Quality Inclusive Education and Decentralised School Governance'. This was supported by European Union and conducted by ERU Consultants Pvt. Ltd. under the leadership of the National Steering Committee. It was set up as a joint collaboration between Ministry of Human Resource Development and European Union in 2010 entitled 'Exchange of International Best Practices in Education-Actions in India and Overseas' leading to innovation in Sarva Shiksha Abhiyan (SSA).*

समानता और पारस्परिकता पर आधारित हो। इसके लिए सबसे अच्छा तरीका है खुद से शुरुआत करना। आइए हम दुनिया को ऐसे एक बहुरंगी चित्र के रूप में देखना प्रारम्भ करें जिसमें हर रंग, हर छोटी से छोटी रेखा और आकृति, सभी उसकी सम्पूर्णता में योगदान देते हैं।

रबीन्द्रनाथ टैगोर के शब्दों में, "भिन्नताएँ, विविधताओं को जन्म देती हैं; एकजुटता विविधता को संरक्षित करती है।"

वन्दना महाजन वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन, बेंगलूरु के साथ काम करती हैं। अपने कार्यक्षेत्र में उन्हें 25 साल से भी ज्यादा का अनुभव है, और इस दौरान उन्होंने लैंगिक समानता की पक्षधर, एक कार्यकर्ता और एक महिलावादी प्रशिक्षक की अलग–अलग भूमिकाएँ निभाई हैं। उन्होंने बाल शिक्षा कार्यक्रमों के साथ काम किया है, बाल–केन्द्रित और अधिकार–आधारित शैक्षणिक प्रशिक्षण तथा सीखने–सिखाने की प्रक्रियाओं को तैयार किया है व उनकी समीक्षा की है। इसके अलावा उन्होंने यू.एन. विमेन में लिंग और एच.आई.वी. विभाग सम्भाला है और लिंग, शिक्षा तथा विकास–आधारित कार्य शोध और प्रक्रिया के दस्तावेजीकरण से जुड़े काम भी सम्भाले हैं। वे अपने उन तमाम साथियों को सलाम करती हैं और उनकी भावना को साझा करती हैं जो अभाव, भेदभाव और हिंसा से मुक्त दुनिया बनाने की मानवीय निपुणता और साहस की भावना का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनसे vandana.mahajan@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : भरत त्रिपाठी

खण्ड स

समावेशी कोशिशें

चलो, साथ चलें: समावेशन के लिए कुछ रणनीतियाँ

जेन साही और वनमाला विश्वनाथ

इस लेख के द्वारा हम कुछ ऐसी रणनीतियाँ साझा करना चाहते हैं जिन्हें हमने अपनी कक्षा को अधिक समावेशी जगह बनाने के लिए विकसित किया। एम.ए. शिक्षा कार्यक्रम में ये दो कोर्स चलाए जाते हैं: *लैंग्वेज, माइण्ड एण्ड सोसायटी (एल.एम.एस.) और टीचिंग इंग्लिश लैंग्वेज इन इण्डिया (टेली)*। इन दोनों कोर्सों के सन्दर्भ में भाषा के उपयोग के तरीकों की सहायता से हमने अपनी कक्षा में समावेशन का प्रयास किया। हमारे विद्यार्थी विविध भाषायी पृष्ठभूमि वाले थे और अँग्रेजी में उनकी दक्षता का स्तर भी भिन्न–भिन्न था, विशेष रूप से औपचारिक अकादमिक लेखन में। हालाँकि ये विद्यार्थी इस कोर्स को क्रमशः अपने तीसरे और अन्तिम सेमेस्टर में कर रहे थे लेकिन कई विद्यार्थी अँग्रेजी में लेख आदि लिखने में खुद को असमर्थ पाते थे, विशेष रूप से जब उन्हें तर्कपूर्ण और अप्रासंगिक निबन्ध लिखने पड़ते थे। इतना ही नहीं कई विद्यार्थी जब अँग्रेजी में अपने अनुभव या विचारों को व्यक्त नहीं कर पाते तो उनमें यह भावना आ जाती कि वे अलग–से पड़ गए हैं और यह बात निश्चित रूप से सभी के लिए हानिकारक है। हम इस बात को रेखांकित करना चाहते हैं कि भाषा हमारे विद्यार्थियों की विविधतापूर्ण दुनिया को तो कक्षा में ला ही सकती है, साथ ही एक विशेष "दुनिया", एक विशेष भाषा और उस भाषा का उपयोग करने की एक विशेष शैली का समर्थन भी कर सकती है।

अकसर समावेशन की धारणा का यह अर्थ लिया जाता है कि जो किसी प्रकार की विकलांगता, कमजोरी या कमियों का शिकार होते हैं उन्हें मुख्यधारा में शामिल करना। लेकिन हमने अपने सामान्य शैक्षणिक सन्दर्भ में 'समावेशन' को समझने की कोशिश की है ताकि विद्यार्थियों की ताकत और ऊर्जा, उनकी विविध भाषाओं तथा विश्वविद्यालय के भीतर और बाहर होने वाले उनके विशिष्ट अनुभवों के पूरे दायरे के साथ जुड़ा जा सके। शिक्षकों के लिए यह एक खास चुनौती है क्योंकि उन्हें बड़ी कक्षाएँ सम्भालनी पड़ती हैं जिसमें इस बात का खतरा रहता है कि कहीं विद्यार्थियों को दिए जाने वाले असाइनमेंट यांत्रिक, फीडबैक न्यूनतम और विकल्प सीमित न हो जाएँ।

अब हम तीन परस्पर व्याप्त विचारों का वर्णन करेंगे जिन्हें हमने समावेशन के लिए प्रयोग किया : बहुभाषिकता का एक संसाधन के रूप में प्रयोग; 'पाठ' की व्यापक व्याख्या और आकलन के लिए डिजाइन किए गए अनेक प्रकार के प्रदत्त कार्य असाइनमेंट और प्रस्तुतियाँ। इनके कारण विद्यार्थियों के साथ कोर्स का सह–निर्माण करने में सभी की अधिक भागीदारी और संलग्नता प्राप्त हुई।

एक आवश्यक संसाधन के रूप में बहुभाषिकता

विद्यार्थियों का विभिन्न भाषाओं सम्बन्धी ज्ञान और उसके प्रति आत्मीयता शिक्षण का एक शक्तिशाली संसाधन होता है क्योंकि उसी के जरिए विद्यार्थियों की दुनिया को कक्षा में लाया जा सकता है जिससे नए व पुराने को जोड़ा जा सके। भिन्न–भिन्न भाषाएँ हमारे क्षितिज का विस्तार करती हैं और अगर किसी ज्ञात भाषा को विस्थापित या प्रतिस्थापित कर दिया जाए तो भारी नुकसान होता है। टैगोर के शब्दों में, "भाषा कोई छतरी या ओवरकोट नहीं है जिसे जाने–अनजाने गलती से माँग लिया जाए; यह तो जीवन्त त्वचा की तरह है।"[1]

Canagarajah (2002), एक अपरिचित भाषा के रूप में अँग्रेजी सीखने के लिए विद्यार्थियों द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली अलग–अलग रणनीतियों के बारे में चर्चा करते हैं। वे *समायोजन* की भावना को जरूरी मानते हैं जिसके तहत विद्यार्थी किसी चीज का हिस्सा बनने का आत्मविश्वास रखता है और जहाँ प्रासंगिक व उपयोगी हो वहाँ उसका

[1] *Tagore R. 1922. 'An Eastern University' in Creative Unity.*

उपयोग भी करता है लेकिन उसके लिए अपनी परिचित भाषा और उसे इस्तेमाल करने के तरीकों को नहीं छोड़ता।[2]

हमारे शिक्षण में अनुवाद का प्रयोग एक सक्रिय साधन के रूप में किया गया जिसकी सहायता से संवाद हो सके, सहयोग प्राप्त किया जा सके और भाषा की परस्पर सम्बद्धता के आधार पर 'भिन्नता' को समझा जा सके।

एल.एम.एस. कोर्स में हमने लोकोक्तियों का प्रयोग किया ताकि इस बात पर गहन चर्चा हो सके कि संस्कृति और भाषा अभिन्न रूप से कैसे जुड़ी हुई हैं। लोकोक्ति का अनुवाद करने के दौरान अर्थ, समान शब्द और तुलना पर गर्मागर्म चर्चा हुई। 'भाषा, सत्ता और समाज' (Language, Power and Society) वाली इकाई पर दिए गए असाइनमेंट में विद्यार्थियों से कहा गया कि वे Bourdieu और Fairclough की सैद्धान्तिक पठन सामग्री में उठाए गए भाषा और सत्ता सम्बन्धी मुद्दों पर चिन्तन करने के लिए अपनी इच्छानुसार किसी भी भारतीय भाषा की कोई कहानी, कविता या आत्मकथात्मक विवरण को चुनें।

भारत और भारतीय भाषाओं के सन्दर्भ में अँग्रेजी भाषा शिक्षण को नया रूप देने के लिए टेली कोर्स ने बहुत महत्त्वपूर्ण प्रयास किया है, जिसमें एकभाषी परिप्रेक्ष्य से हटकर बहुभाषी प्रतिमान की ओर जाने का प्रयास है। हमारी कक्षा में द्वितीय भाषा के रूप में अँग्रेजी के शिक्षण में प्रथम भाषा के 'विवेकपूर्ण' उपयोग के बारे में बहुत चर्चा हुई। विद्यार्थियों से कहा गया कि वे ऐसी पाठ योजनाएँ बनाएँ जिनमें कार्य आधारित शिक्षण के अन्तर्गत प्रथम भाषा का *व्यवस्थित* रूप से उपयोग करने का तरीका सुझाया गया हो।

विद्यार्थियों ने बताया कि उन्हें दिए गए पाठ्यों को समझने और उसके साथ जुड़ने में मुश्किल होती है। या तो ये पाठ्य बहुत लम्बे और गहन होते हैं या अपरिचित और जटिल विचारों से भरे होते हैं। ऐसे में पाठ्य के छोटे हिस्सों को चिह्नांकित किया जा सकता है, ऐसी व्यवस्था की जा सकती है जो यह बताए कि इस पाठ्य को क्यों चुना गया और किन मुख्य मुद्दों पर ध्यान देना है तथा साथ ही लेखन का सन्दर्भ दिया जा सकता है ताकि विद्यार्थी उसे उन बातों से जोड़ सकें जिन्हें वे पहले से ही जानते हैं। कुछ पाठ्यों को उससे सम्बन्धित गतिविधि के माध्यम से भी प्रस्तुत किया जा सकता है। उदाहरण के लिए एन. एस. प्रभु की पुस्तक (Second Language Pedagogy, 1987) का एक अध्याय लगभग सभी विद्यार्थियों को तब तक समझ में नहीं आया जब तक उनकी सहायता नहीं की गई। उसे समझाने के लिए 'गतिविधि' की जरूरत पड़ी। लेकिन सभी पाठ ऐसे नहीं होते जिनसे सम्बन्धित व्यावहारिक गतिविधि की जा सके। लेकिन जब कैलेण्डर जैसे परिचित संसाधन की सहायता से द्वितीय भाषा के रूप में कन्नड़ का प्रयोग करके एक पाठ प्रस्तुत किया गया, तब 'कार्य पर आधारित शिक्षण' वाला यह अध्याय विद्यार्थियों को बड़ी आसानी से समझ में आ गया। वनमाला ने विद्यार्थियों के संस्कृत के मौजूदा ज्ञान और कैलेण्डर के कार्य के बारे में साझी धारणा के आधार पर गैर कन्नड़ भाषी विद्यार्थियों के साथ भी कन्नड़ भाषा में प्रभावी तरीके से संवाद किया। इससे विद्यार्थियों को खुद ही पता चल गया कि द्वितीय भाषा सीखने में 'कार्य पर आधारित गतिविधि' की क्या प्रकृति होती है जिसमें व्याकरण सम्बन्धी स्पष्ट शिक्षण, शब्दावली या अभ्यास पर निर्भर हुए बिना भी किसी नई भाषा में संवाद करना सम्भव हो सकता है।

पाठ्य की प्रकृति को पुनः परिभाषित करना

विश्लेषण और चिन्तन के लिए प्रयुक्त सैद्धान्तिक पाठ्यों के अलावा हमने मल्टीमिडिया पाठ्यों का भी इस्तेमाल किया जैसे फिल्में, कविताएँ, अखबार की कतरनें, विज्ञापन, कार्टून, लघुकथाएँ, जीवनी और आत्मकथाएँ। कुछ असाइनमेंट ऐसे भी थे जिनमें बहुत निकट रूप से अवलोकन करने की आवश्यकता थी जैसे मानव जाति व संस्कृति का लघु अध्ययन (mini-ethnographical study) करना या अपने व्यक्तिगत अनुभवों पर चिन्तन करना।

शैक्षिक सन्दर्भ में व्यक्तिगत विवरणों के समावेशन को सतही, भावनात्मक और तुच्छ मानते हुए अक्सर सन्देह और उपहास की दृष्टि से देखा जाता है। लेकिन यह एक ठोस और सिद्ध शैक्षिक सिद्धान्त है कि व्यक्तिगत विवरण विद्यार्थियों के वर्तमान ज्ञान को नए अधिगम के साथ जोड़ने में उनकी सहायता करते हैं। जब विद्यार्थियों को इन कथाओं पर एक दर्शक के रूप में चिन्तन करने का मौका मिलता है तो इससे उन्हें अपना विकास करने में मदद मिलती है। अधिक परम्परागत और अप्रासंगिक निबन्ध विद्यार्थियों को मुद्दे से दूर ले जाते हैं और उनके

[2] *A.S. Canagarajah. 2002. Critical Academic Writing and Multilingual Students. The University of Michigan Press. P. 113*

[3] *Rushdie Salman. 1990. One Thousand Years in a Balloon. Viking Children's Books.*

अनुभव तथा मौजूदा ज्ञान को शामिल नहीं करते। सलमान रशदी के अनुसार, "जिनको अपने जीवन पर हावी होने वाली कहानी पर अधिकार नहीं है–उन्हें पुनः कहने, उन पर पुनर्विचार करने, उन्हें खण्डित करने, उन पर हँसने और समय के बदलने के साथ उन्हें बदलने की ताकत नहीं है–वे वास्तव में शक्तिहीन हैं क्योंकि वे नए विचारों के बारे में सोच ही नहीं सकते।"[3]

जब विद्यार्थियों से यह सवाल पूछा गया कि 'अन्य भारतीय भाषा/ओं की तुलना में अपने अँग्रेजी सीखने के अनुभव पर टिप्पणी कीजिए', तो एक छात्रा ने शायद पहली बार उस भाषा के सम्बन्ध में अपनी असुविधा व्यक्त की जिसमें वह सबसे अधिक कुशल है। वह लिखती है, *"मैं जिन छह भाषाओं से परिचित हूँ उनमें से ज्ञान का अत्यधिक प्रकाशन अँग्रेजी के कारण हुआ है। फिर भी मैंने भाषा का इस्तेमाल उधार में लिए हुए साधन की तरह किया है। यह मुझे कभी अपनी नहीं लगी। मैंने हमेशा इसका उपयोग वैसे ही किया जैसा आधिकारिक पदों (शिक्षक, मुख्यधारा की स्कूली शिक्षा) ने चाहा...अब भी काफी हद तक मेरा मानना है कि (कम से कम जानते–बूझते हुए) मैंने कभी भाषा को अपनी सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल बनाने की कोशिश नहीं की।"*

फिल्म *इंग्लिश विंग्लिश* की समीक्षा लिखते समय एक अन्य छात्रा ने उसे अपने अनुभव के साथ जोड़ा कि कैसे वह भाषाओं की वजह से खुद को हाशिए पर महसूस करती थी। वह लिखती है,

यह फिल्म मूल रूप से गरिमा और सम्मान के बारे में है। वह अँग्रेजी इसलिए नहीं सीख रही थी क्योंकि उसे इसकी जरूरत थी, बल्कि इसलिए सीख रही थी क्योंकि वह अपमान नहीं सह सकती थी। ज्यादातर हम भी ऐसा ही करते हैं। अगर हम अँग्रेजी के सिवाय सात भाषाएँ जानते हैं तो कुछ नहीं लेकिन अगर अँग्रेजी नहीं जानते तो यह बहुत बड़ी बात हो जाती है।

असाइनमेंट के सन्दर्भ में अपने व्यक्तिगत परिप्रेक्ष्य के बारे में लिखना विद्यार्थियों के लिए वाकई एक चुनौती है क्योंकि शैक्षिक अनुशासन का एक अभिन्न हिस्सा यह है कि किसी मुद्दे को सोच–समझकर अलग नजरिए से देखा जाए और दिए गए अभिप्राय से हटकर एक सुविज्ञ, सन्तुलित चर्चा की ओर बढ़ा जाए। इरा शोर निकटता और वस्तुनिष्ठता के बारे में इस प्रकार लिखती हैं–

हम अनुभव से दूर तब होते हैं जब हम उसे परिचित परिवेश से अलग करते हैं और उसका अध्ययन अपरिचित व समीक्षात्मक तरीके से तब तक करते हैं जब तक उसके और समाज के बारे में हमारी धारणा को चुनौती न मिले।

स्कूल के सन्दर्भ में कक्षा के अवलोकन को देखने के अलावा विश्वविद्यालय भी अपने आप में सीखने का एक उपयोगी स्थल हो सकता है। एल.एम.एस. कोर्स में विद्यार्थियों को विश्वविद्यालय के वातावरण में कक्षा के कार्यकलापों के बारे में मानव जाति व संस्कृति सम्बन्धी एक लघु अध्ययन (ethnographical study) करने का विकल्प दिया गया। सम्भवतः कुछ विद्यार्थियों के लिए यह पहला अवसर था जब वे विभिन्न दृष्टिकोणों से कक्षा भागीदारी का विश्लेषण कर रहे थे। एक छात्रा ने खुद की कल्पना एक ऐसी तमिल छात्रा के रूप में की जिसको अँग्रेजी का न्यूनतम ज्ञान है और लिखा,

यदि मैं अँग्रेजी न जानती होती तो क्या मैं अपने प्रोफेसरों और सहपाठियों के साथ बातचीत कर पाती? कक्षा में मूर्ख कहलाने के डर से खुद को धिक्कारती क्योंकि मैं अँग्रेजी में अपने विचार व्यक्त नहीं कर पाती। यह अनुभव मुझे अजनबी बना देता और मैं जल बिन मछली जैसा महसूस करती। यह सब अपनी संस्कृति वाले किसी व्यक्ति के साथ बात करने जैसा नहीं होता। अगर मुझे अपने विचारों को अर्थ देने के लिए अँग्रेजी को अपनाना पड़ता तो उसके लिए मुझे दुनिया को एक अलग तरह से संकल्पित और अनुभव करने की जरूरत पड़ती।

ऐसे प्रदत्त कार्यों और प्रस्तुतियों को डिजाइन करना जिन्हें करने के लिए विद्यार्थियों को सैद्धान्तिक और व्यावहारिक मुद्दों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने के लिए सक्रिय रूप से काम करने की जरूरत पड़े।

असाइनमेंट और फीडबैक के प्रतिमान या पैटर्न अकसर यह संकेतित करते हैं कि वास्तव में किस चीज का मूल्यांकन हो रहा है, इसलिए यह जरूरी है कि समावेशन के सिद्धान्त को वहाँ काम में लाया जाए जहाँ संस्थागत आवश्यकताओं के सन्दर्भ में वह विद्यार्थियों के लिए महत्त्वपूर्ण हो।

प्रक्रिया सम्बन्धी पोर्टफोलियो एक ऐसी विधि है जो लिखित असाइनमेंट के लिए एक लचीला साधन मुहैया कराती है

और जिसमें प्रक्रिया और लिखित कार्य दोनों का मूल्यांकन होता है। पोर्टफोलियो कार्य के आकार, शैली और उसकी पूर्णता की दृष्टि से एक व्यापक क्षेत्र प्रदान करता है। इसके अलावा यह आकलन के संचयी और योगात्मक, दोनों तरीकों का समर्थन करता है और विद्यार्थियों को प्रक्रिया का संशोधन करने, सुधार करने तथा समीक्षात्मक रूप से जागरूक होने का अवसर भी देता है।

असाइनमेंट को देखने–सुनने वाले कौन हों: इस बारे में पोर्टफोलियो की एक अलग समझ है जो इसका एक महत्त्वपूर्ण पहलू भी है। आमतौर पर असाइनमेंट पर बिना किसी फीडबैक के ग्रेड दे दिया जाता और बात समाप्त हो जाती है। विचारों का आदान–प्रदान होता ही नहीं। हमने यह सोचा कि विद्यार्थी जो मसौदा बनाते हैं, पहले उस पर विचार–विमर्श किया जाए ताकि ये असाइनमेंट संवाद की शुरुआत बन सकें न कि अन्त।

एक बार तीन विद्यार्थियों से कहा गया कि वे किसी अन्य विद्यार्थी के काम पर विचार–विमर्श करके उसे मौखिक और लिखित रूप में प्रस्तुत करें। अच्छे लेखन के लक्षणों का विश्लेषण करने के लिए एक रूपरेखा भी सुझाई गई और विद्यार्थियों से कहा गया कि वे विचारों के विकास, निबन्ध की संरचना, वाक्य प्रवाह, प्रामाणिकता और लेखक की अभिव्यक्ति की शक्ति के साथ में वर्तनी तथा विरामचिह्न जैसी परम्परागत बातों पर भी टिप्पणी दें।

विद्यार्थियों ने एक–दूसरे को काफी हद तक समीक्षात्मक किन्तु सम्वेदनशील और सकारात्मक फीडबैक दिया। इससे विद्यार्थियों को विभिन्न दृष्टिकोणों को सीखने–समझने का अच्छा अवसर मिला और साथ ही इस बात में भी मदद मिली कि अच्छे लेखन का विश्लेषण करने के लिए सुझाई गई रूपरेखा के आलोक में अपने ही काम की समीक्षा कैसे की जाए।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि विद्यार्थियों को आसान विकल्प देने अथवा विचारों की गम्भीरता या जटिलता को कम करने की बजाय चुनौती देना आवश्यक है। Freire 'सख्ती'[4] को मूल रूप से समझने के विचार पर चर्चा करते हैं। मुक्ति के लिए शिक्षण शास्त्र। सख्ती इस बात में निहित नहीं होती कि अमूर्त विचारों से अलग–थलग रूप में निपटा जाए जो सोच में जागरूकता और गहनता का समर्थन तो करती ही है; साथ ही यह अन्तर–विषयी और बहुपरतीय तरीकों से काम करने के लिए व्यावहारिक कार्य और सिद्धान्त को साथ ले आती है। पाठ्य भिन्न–भिन्न भाषाओं में होने चाहिए, उनमें विविधता होनी चाहिए, वे सुलभ होने चाहिए और विद्यार्थियों द्वारा ही तैयार किए जाने चाहिए ताकि समावेशी कक्षा की स्थापना हो सके।

[4] *Freire P. and Shor I. 1987. A Pedagogy for Liberation. Praeger.*

जेन साही अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय, बेंगलूरु और टाटा इंस्टिट्यूट ऑफ सोशल साइंसेस में अंशकालिक रूप से कार्य करती हैं। **1975** के बाद से उन्होंने बेंगलूरु के बाहरी इलाके के एक अनौपचारिक स्कूल, सीता स्कूल में काम किया है। हाल ही में वे प्रौढ़ शिक्षा के साथ जुड़ी हैं। उनसे jane.sahi@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है।

वनमाला विश्वनाथ अज़ीम प्रेमजी विश्वविद्यालय, बेंगलूरु की फैकल्टी सदस्य हैं। वे भाषा तथा साहित्य की छात्रा रही हैं। वे विश्वविद्यालय में शिक्षा में भाषा की भूमिका से सम्बन्धित विभिन्न कोर्स पढ़ाती हैं। वे कन्नड़ तथा अँग्रेजी भाषा की अनुवादक भी हैं, साथ ही अनुवाद से सम्बन्धित अध्ययनों की अध्येता भी। उनसे vanamala.viswanatha@apu.edu.in पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : नलिनी रावल

मुख्यधारा की कक्षाओं में विशिष्ट अधिगम अशक्तता

नीना डेविड

कबीर के माता–पिता थके–थके से लग रहे थे। वे जानते थे कि सातवीं कक्षा के बच्चों की यह अभिभावक–शिक्षक मीटिंग वैसी ही होगी जैसी हमेशा से होती रही है। शिक्षक यही कहेंगे कि कबीर को ठीक से पढ़ना नहीं आता, उसकी लिखाई अच्छी नहीं है, कक्षा कार्य पूरा नहीं है, वर्तनी सम्बन्धी बहुत सारी अशुद्धियाँ हैं और वह अकादमिक कार्यों में रुचि नहीं लेता। कबीर के प्रगति पत्र पर शिक्षक हमेशा यही टिप्पणी लिखते थे कि उसे अपने कार्य में सुधार करना है, यदि वह मेहनत करे तो बेहतर प्रदर्शन कर सकता है। उसके माता–पिता जानते हैं कि वह औसत रूप से एक अच्छा विद्यार्थी है, उसके स्कूल और ट्यूशन के शिक्षक भी यही बात कहते हैं, लेकिन उसके अकादमिक कौशल और कक्षा में उसका प्रदर्शन अलग ही कहानी कहते हैं। वे सोचा करते कि यह बच्चा इतना आलसी क्यों है? इतना बुझा–बुझा क्यों है? अपने कार्य में रुचि क्यों नहीं लेता और उसके साथ काम करना इतना कठिन क्यों है? स्कूल ने सुझाव दिया है कि कबीर को मनोवैज्ञानिक के पास ले जाया जाए ताकि उसके अधिगम का औपचारिक आकलन किया जा सके। पहले तो माता–पिता इस विचार का विरोध करते हैं और कहते हैं कि उनका बेटा 'पागल नहीं' है लेकिन बाद में सहमत हो जाते हैं।

जब भी हाईस्कूल का कोई किशोर मेरे पास अधिगम के औपचारिक आकलन के लिए भेजा जाता है तो पता चलता है कि अच्छे ग्रेड न पाना तो समस्या का छोटा–सा अंश है। आकलन सत्र के दौरान कई बातें सामने आती हैं जैसे किशोर का नकारात्मक माता–पिता के साथ जूझना, शिक्षक और साथियों की प्रवृत्ति, कक्षा में तकरीबन रोज विफलता का सामना करना, माता–पिता का असहाय महसूस करना और दबाव में आना तथा शिक्षकों द्वारा मुख्यधारा की कक्षा में अधिगम की कठिनाइयों से निपटने में अपनी सीमाओं को व्यक्त करना। जो बच्चे कक्षा में कठिनाई महसूस करते हैं, उन पर किए गए शोध से पता चलता है कि अगर अधिगम के शुरुआती अनुभव नकारात्मक हों तो उससे खतरा हो सकता है (Hamre and Pianta, 2001)। और सम्भव है कि इनसे भविष्य में अकादमिक विकल्पों, जीविका के विकल्पों और मनोवैज्ञानिक रूप से स्वस्थ रहने पर दीर्घकालिक प्रभाव पड़े।

कबीर की यह कहानी नई नहीं है। दुर्भाग्य की बात है कि ऐसा भारत के लाखों परिवारों में देखने को मिलता है। महाराष्ट्र में किए गए एक शोध से पता चलता है कि ध्यान देने और अधिगम की कठिनाई के लक्षणों के पहली बार नजर आने तथा बच्चे की समस्या को पहचानने में औसतन छह साल लग जाते हैं (Karande et al., 2007)। इस देरी का यह परिणाम होता है कि भले ही प्रारम्भिक स्कूल में इस समस्या की चेतावनी के निश्चित और शुरुआती संकेत मिल जाते हैं, लेकिन इसके बारे में चर्चा तभी होती है जब बच्चा माध्यमिक या उच्च विद्यालय में आ जाता है। अधिगम की कठिनाइयों के निदान को अग्रलिखित बातें प्रभावित करती हैं: समस्या की जल्दी पहचान न होना और बच्चे को मिलने वाली प्रारम्भिक शिक्षा की गुणवत्ता। इन कारणों से यह समस्या गम्भीर हो जाती है।

विशिष्ट अधिगम अशक्तताएँ क्या हैं?

जब बच्चा शैक्षिक क्षेत्र में लगातार अच्छा प्रदर्शन नहीं कर पाता तो शिक्षक और अभिभावक उसका आकलन करवाते हैं। इससे यह संकेत तो मिलता है कि बच्चे में अधिगम की अशक्तता है लेकिन इसका कारण अन्य मनोवैज्ञानिक या सामाजिक स्थितियाँ भी हो सकती हैं। भारत में विशिष्ट अधिगम अशक्तता या Specific Learning Disability (SLD) शब्द का प्रयोग अधिगम की कठिनाइयों या उन विद्यार्थियों के बारे में बताने के लिए भी कर लिया जाता है जिन्हें 'धीमी गति से सीखने वाला' माना जाता है। लेकिन एस.एल.डी.के लिए विशिष्ट प्रकार के निदान की जरूरत होती है और यह एकाधिक बुनियादी मनोवैज्ञानिक

प्रक्रियाओं के विकारों के विषम समूह को सन्दर्भित करता है जिनमें मौखिक या लिखित भाषा को समझना या प्रयोग में लाना शामिल है। ये अनेक प्रकार से प्रकट हो सकती हैं जैसे सुनने, सोचने, बोलने, पढ़ने, लिखने, वर्तनी या गणितीय गणना करने में बच्चे को होने वाली कठिनाइयाँ। एस.एल.डी. में अधिगम की वे समस्याएँ शामिल नहीं हैं जो मुख्य रूप से दृश्य, श्रव्य या गति सम्बन्धी, मानसिक मन्दता, भावनात्मक अशान्ति, वातावरणीय, सांस्कृतिक या आर्थिक रूप से पिछड़ेपन के कारण पैदा होती हैं (IDEA, 2004)।

एस.एल.डी.को अकसर 'छुपी हुई अशक्तता' का नाम दिया जाता है क्योंकि इसका पता आसानी से नहीं लग पाता और इस वजह से अभिभावक और शिक्षक उलझन में पड़ जाते हैं। एस.एल.डी.वाले बच्चों की संज्ञानात्मक कार्य क्षमता का क्षेत्र औसत या औसत से अधिक होता है और इसीलिए वह कक्षा के अन्य बच्चों की तरह ही लगता है, पर हो सकता है कि उसे पढ़ने, समझने, वर्तनी, लिखने और/या गणित सम्बन्धी कार्य करने में कठिनाई होती हो। ये कठिनाइयाँ कम या अधिक हो सकती हैं लेकिन होती हैं।

वर्तमान समय में एस.एल.डी.को विशिष्ट संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं में होने वाली तंत्रिका सम्बन्धी न्यूनता के रूप में देखा जाता है। एस.एल.डी. के कारणों पर किए गए शोध से पता चलता है कि आनुवंशिक कारणों तथा/अथवा जन्म पूर्व, जन्म और जन्म के बाद की अवधि में मस्तिष्क को क्षति पहुँचने से ऐसा हो सकता है। एस.एल.डी.का कोई इलाज नहीं है लेकिन अगर इसका उपचार जल्दी और सतत रूप से किया जाए तो इससे प्रभावी ढंग से निपटा जा सकता है।

कक्षा में एस.एल.डी.

शोधकर्ता हमें चेतावनी देते हैं कि भारत में एस.एल.डी. के अध्ययन को एक जटिल सामाजिक–सांस्कृतिक, आर्थिक, भाषा और प्रारम्भिक शिक्षा की गुणवत्ता सम्बन्धी मुद्दों का सामना करना पड़ता है (कारन्त, 2002)। भारत में एस.एल. डी. की व्यापकता के लिए उपलब्ध आँकड़े स्कूल जाने वालों की संख्या का 6 से 14% के बीच हैं। जमीनी स्तर पर इन आँकड़ों की हकीकत यह संकेत देती है कि एस. एल.डी. वाले अधिकतर विद्यार्थियों को सहायता और अनुसमर्थन देने के लिए केवल मुख्यधारा की कक्षा और शिक्षक व्यवहार्य बिन्दु बने रहेंगे। जिन स्कूलों के अध्यापन और शिक्षण शास्त्र का दृष्टिकोण समावेशी है वे एस.एल. डी. वाले बच्चों के लिए विशेष रूप से फायदेमन्द होते हैं।

अकसर शिक्षक बड़ी कक्षाओं, प्रशिक्षण की कमी और एक कठोर परीक्षा–संचालित पाठ्यचर्या का हवाला देते हुए कहते हैं कि इन बाधाओं की वजह से वे एस.एल.डी. वाले बच्चों को अधिगम के सार्थक अवसर नहीं दे पाते। ऐसे शिक्षक भी हैं जो कक्षा में मौजूद इन अन्तरों को स्वीकार करते हैं और उनके लिए कार्य करने के लिए तैयार भी रहते हैं। समावेशन को बढ़ावा देने के इच्छुक नीति निर्माताओं और स्कूल प्रबन्धक वर्ग को यह बात पहचाननी होगी कि शिक्षक समावेशी कक्षाओं को किस स्तर तक स्वीकार करते हैं, यह बात उनके व्यक्तिगत विश्वासों, विभिन्न प्रकार के सन्दर्भों और कार्यक्रम विशिष्ट परिवर्तनीय कारकों से प्रभावित होती है।

एस.एल.डी. के सम्भावित संकेतक

निदान की प्रक्रिया में इन बातों का ध्यान रखना चाहिए: जो कदम भी उठाए जाएँ उसके बारे में बच्चे की प्रतिक्रिया, शिक्षकों, अभिभावकों से प्राप्त जानकारी और मनोवैज्ञानिक द्वारा दिए गए पाठ्यक्रम पर आधारित तथा मानकीकृत परीक्षणों में प्राप्त अंक। शिक्षकों को नैदानिक निर्णय करने की आवश्यकता नहीं है पर वे एस.एल.डी. वाले बच्चे में सम्भावित अधिगम के संकेतकों पर ध्यान दे सकते हैं और समुचित कदम उठाने की शुरुआत कर सकते हैं। सर्व शिक्षा अभियान मैनुअल (SSA 2003) में एस.एल.डी. के लिए एक जाँच सूची है जिसका उपयोग शिक्षक नियमित स्कूलों में प्रारम्भिक जाँच के लिए कर सकते हैं। तालिका 1 में सूचीबद्ध सम्भावित संकेतक बहुत व्यापक तो नहीं हैं किन्तु कक्षा में आमतौर पर दिखाई देने वाली कठिनाइयों को दर्शाते हैं। बच्चे के गुणों और रचनात्मक/प्रदर्शन कलाओं, खेलकूद आदि के साथ में ये संकेतक भी नजर आते हैं जो बच्चों में गम्भीरता के भिन्न–भिन्न स्तरों में प्रकट हो सकते हैं।

तालिका 1 : एस.एल.डी. के सम्भावित संकेतक

लेखन कौशल

- डिसग्राफिया (Dysgraphia) : लिखने में कठिनाई
- मौखिक क्षमता की तुलना में लेखन कार्य का स्तर कम होना
- अक्षरों को लेकर भ्रमित होना, अक्षर या उल्टे शब्द की मौजूदगी
- घिचपिच लिखित कार्य : अक्षरों की खराब बनावट, असंगत आकार और अन्तराल, बार–बार मिटाना और शब्दों को काटना

- वर्तनी की अशुद्धियाँ : एक ही लेखन कार्य में कोई एक ही शब्द अलग–अलग तरह से लिखना, गलतियाँ ध्वन्यात्मक या विचित्र वर्तनी का संकेत हो सकती हैं
- पेंसिल को ठीक तरह से न पकड़ पाना

पढ़ने के कौशल

- डिस्लैक्सिया (Dyslexia) : पढ़ने और समझने की कठिनाई
- ध्वनि मिश्रण और शब्दांश के विभाजन में कठिनाई
- ध्वनियों में अन्तर कर पाने की कठिनाई
- तुकान्त शब्दों में कठिनाई
- पढ़ने का असंगत स्तर
- पढ़ने में प्रवाह की कमी और समझने में कठिनाई
- पढ़ते समय पढ़े जा रहे स्थान से चूक जाना, शब्दों को छोड़ देना या जोड़ देना या बदले में कोई दूसरा शब्द रख देना
- पढ़ने की गतिविधियों से आँखें चुराना जैसे जोर से पढ़ने की गतिविधि

संख्यात्मक गणना

- डिस्केलकुलिआ (Dycalculia) : संख्यात्मक अवधारणाओं की कठिनाई
- संख्या रेखा सम्बन्धी भ्रम
- संख्या अनुक्रमण और स्थानीय मान सम्बन्धी भ्रम
- उल्टी संख्या
- अभिकलनात्मक संकेतों सम्बन्धी भ्रम
- पहाड़े सीखने में कठिनाई

गति सम्बन्धी कौशल

- गति समन्वय कठिनाई (Easily distracted- lost): गति सम्बन्धी कौशल की कठिनाइयाँ
- स्थूल और सूक्ष्म गति सम्बन्धी सम्भावित कठिनाइयाँ
- रंगने, बटन लगाने और फीते बाँधने में कठिनाई
- दिशा सम्बन्धी कठिनाइयाँ–बायाँ और दायाँ, ऊपर और नीचे, मानचित्र पर चतुर्दिश
- गति के क्रम को शुरू करने और बनाए रखने की कठिनाई

सामान्य व्यवहार

- आसानी से ध्यान बँटना–खोया–खोया रहना, अपने ही विचारों में डूबे रहना
- निर्देशों का पालन न कर पाना या उन्हें न समझ पाना
- अधूरा कक्षा कार्य
- व्यवस्थापन कौशल की कठिनाई
- यदि सक्रिय रूप से निगरानी की जाए तो बेहतर प्रदर्शन करना

कक्षा में

मुख्यधारा की कक्षा में एस.एल.डी. वाले बच्चों के अधिगम की जरूरतों को प्रभावी ढंग से पूरा करना एक चुनौतीपूर्ण काम है लेकिन शिक्षकों को यह चुनौती स्वीकार करनी होगी। नीचे कुछ व्यावहारिक सुझाव दिए गए हैं। जिन बच्चों की अधिगम सम्बन्धी कठिनाई है, उनके साथ काम करते समय शिक्षक इन सुझावों को ध्यान में रख सकते हैं–

1. जानकारी प्राप्त करना : विद्यार्थी जिन कठिनाइयों को दर्शाते हैं, उनके बारे में पढ़ें।
2. इस बात को स्वीकारें कि बच्चे को अधिगम सम्बन्धी कठिनाई है और आपका सक्रिय और सहायक रवैया बच्चे की सफलता के लिए महत्त्वपूर्ण है।
3. माता–पिता के साथ बातचीत और सहयोग करें। उनके साथ सकारात्मक फीडबैक साझा करें और विद्यार्थी स्कूल में किस प्रकार से कार्य कर रहा है, इस बारे में सरोकारों को उनके साथ बाँटें।
4. शिक्षण, कक्षा की व्यवस्था और आकलन की प्रक्रियाओं में सामंजस्य करें। जैसे कार्यों को छोटे–छोटे चरणों में तोड़ना, एसाइनमेंट या टेस्ट को पूरा करने के लिए समय सीमा बढ़ाना, दूसरे विद्यार्थी से नोट्स माँगने देना, कक्षा में दोस्त नियुक्त करना, इच्छानुसार बैठने देना, टेस्ट में मौखिक उत्तर देने की अनुमति प्रदान करना आदि।
5. राज्य और राष्ट्रीय परीक्षा बोर्ड (सी.बी.एस.सी., आई. सी.एस.ई., एन.आई.ओ.एस.) उन बच्चों को कुछ रियायतें देते हैं जिन्हें औपचारिक रूप से एस.एल. डी. वाले बच्चों के रूप में चिह्नित किया जाता है। शिक्षक को इन प्रावधानों के बारे में पता होना चाहिए और उनका उपयोग करने के लिए विद्यार्थियों को प्रोत्साहित करना चाहिए। इन्हें 'बैसाखियाँ' नहीं समझना चाहिए, ये तो खेल के मैदान को समतल करने के साधन हैं ताकि एस.एल.डी. वाले बच्चों को भी शैक्षिक सफलता का अनुभव करने का मौका मिल सके।
6. सक्रिय रूप से अध्ययन कौशल सिखाएँ जिनमें व्यवस्थापन कौशल, समस्या हल करना, समय प्रबन्धन, अधिगम की रणनीतियाँ, समीक्षा की प्रभावी योजनाएँ आदि शामिल हैं।

7. विशिष्ट और रचनात्मक फीडबैक दें। उदाहरण के लिए किसी असाइनमेंट पर टिप्पणी देते समय 'बेहतर कार्य कर सकता है' कहने की बजाय यह बताना चाहिए बच्चे को किस विशिष्ट क्षेत्र में सुधार करना है–जैसे शब्दावली, वाक्य संरचना, उच्चारण आदि।

8. बीच–बीच में बच्चे की समझ की जाँच करते रहें और कक्षा की चर्चाओं में भाग लेने के लिए उसे प्रोत्साहित करें।

9. कार्य की शुरुआत में ही पर्यवेक्षण प्रदान करें और बाद में प्रगति का अनुश्रवण करें।

10. बच्चे के साथ सद्भावपूर्ण सम्बन्ध बनाएँ और उसे लगातार सकारात्मक सुदृढ़ीकरण प्रदान करें।

11. पाठ के मुख्य शिक्षण उद्देश्यों पर ध्यान देते हुए बच्चे के लिए पाठ्य सामग्री को आसान बनाएँ।

References:

- Hamre, K. & Pianta, C (2001) Early Teacher-Child Relationships and the Trajectory of Children's School Outcomes through Eighth Grade Child Development,72(2) , 625-638
- Karande,S., Satam,N., Kulkarni,M., Sholapurwala,R., Chitre,A., and Shah,N.(2007). Clinical and psychoeducational profile of children with specific learning disability and co-occurring hyperactivity disorder. Indian Journal of Medical Sciences, 61, 639-64
- Karanth Prathibha. Learning disabilities in the Indian context. 2002. Available from: URL: http://www.nalandainstitute.org/aspfiles/learning.asp
- Individuals With Disabilities Education Act. 2004. Available from: URL: http://f r w e b g a t e. access.gpo.g o v / c g i - b i n / getdoc.cgi?dbname=108_cong_public_laws&docid=f:publ446.108

नीना डेविड एक क्लिनिकल मनोवैज्ञानिक हैं। वे विविध स्थितियों में बच्चों, किशोरों, वयस्कों और परिवारों के मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य से सम्बन्धित सरोकारों और मुद्दों को सुलझाने की विशेषज्ञ हैं। सम्प्रति वे स्वतंत्र रूप से प्रेक्टिस कर रही हैं और साथ ही माल्या अदिति इण्टरनेशनल स्कूल, बेंगलूरु में परामर्श सेवाएँ प्रदान करती हैं। उन्होंने स्कूल के मानसिक स्वास्थ्य कार्यक्रम चलाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है जिसकी अधिगम समर्थन सेवा बहुत प्रशंसनीय रही है। नीना ने अधिगम अशक्तता की इण्डियन एसोसिएशन ऑफ क्लिनिकल साइकॉलॉजिस्ट्स नेशनल टास्क फोर्स में कार्य किया। नीना ने वुमन्स क्रिश्चियन कॉलेज, चेन्नई से एप्लाइड मनोविज्ञान में स्नातकोत्तर डिग्री, निम्हान्स से क्लिनिकल मनोविज्ञान में एम.फिल की डिग्री और सेण्टर फॉर ह्यूमन इकॉलजी, टी.आई.एस.एस., मुम्बई से पीएच.डी की डिग्री प्राप्त की। उनसे neenajd@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : नलिनी रावल

साउथपॉइंट विद्याश्रम में समावेशी शिक्षा

नीता कुमार

"भारतीय बच्चों के लिए एक उत्कृष्ट भारतीय शिक्षा कैसी हो?" इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए 1990 में वाराणसी. उ. प्र. में हमारी सोसाइटी निर्माण के द्वारा द साउथपॉइंट विद्याश्रम खोला गया। उपर्युक्त प्रश्न के उत्तर में दो बातें थीं। पहली, शिक्षा *समावेशी* होनी चाहिए। इसमें हर पृष्ठभूमि के बच्चों को शामिल करना चाहिए, भले ही वे किसी भी वर्ग, धार्मिक व क्षेत्रीय समुदाय, लिंग और क्षमता वाले क्यों न हों। यह बात तो साफ है कि भारतीय स्कूल समावेशी *नहीं* होते। विद्यार्थियों को हमेशा उनके वर्ग और कभी–कभी कुछ अन्य मापदण्डों के आधार पर भी विभेदित किया जाता था। दूसरी, शिक्षा *उत्कृष्ट* होनी चाहिए। बच्चों को ऐसे कौशल सिखाने चाहिए जिससे वे अपने सपनों को पूरा कर सकें और आजीवन सीखने को तत्पर रहें। हमने इन दृष्टिकोणों को "उत्तर उपनिवेशी" का नाम दिया और अपने उत्तर उपनिवेशी शिक्षा केन्द्र में शोध करके उन्हें लगातार विकसित किया।

"उत्तर उपनिवेशी" नाम का मतलब क्या है? हम *आज* की भारतीय शिक्षा की समस्याओं को "उपनिवेशी" कहते हैं अर्थात (1) आज के शिक्षकों में एक सोपानिक विचारधारा है जिसमें कुछ बच्चों को स्वास्थ्य की दृष्टि से अधिगम के अयोग्य माना जाता है, और (2) इस बात के लिए संसाधनों और अवधारणाओं की कमी है कि बच्चों को प्रगतिशील, बाल–केन्द्रित और समावेशी तरीके से कैसे पढ़ाया जाए। इन समाधानों को "उत्तर उपनिवेशी" कहने के पीछे हमारा तात्पर्य यह है कि (1)हमारे स्कूल में समानता की राजनीति को साकार किया जाना चाहिए, जहाँ परिवार और समुदाय की पृष्ठभूमि, मूल्यों और तौर–तरीकों, रिवाजों और आदतों की परवाह न करते हुए हर किसी को एक शिक्षार्थी माना जाए और (2)हमें पाठ्यक्रम, शिक्षक शिक्षा और कला सहित अपने कार्य–व्यवहारों की मदद से संसाधनों का निर्माण करना चाहिए। हमारा निष्कर्ष यह रहा कि ये दोनों समाधान करणीय हैं और ये स्कूल और परिवार के मजबूत रिश्ते पर निर्भर होते हैं।

मैं इस लेख में 1990 से अब तक की यात्रा के बारे में बताना चाहती हूँ। आशा है कि हम इस विचार को आगे बढ़ा पाएँगे ताकि इस तरह के समाधानों से दूसरों की सहायता कर सकें।

समानता की राजनीति

बच्चे की अवधारणा

भारत में हम विभिन्न स्रोतों से बच्चे की अवधारणा का पुनर्निर्माण कर सकते हैं जैसे पौराणिक कथाएँ, अवलोकन, साक्षात्कार, कहानी और ऐतिहासिक शोध। हमें एक दिलचस्प बात यह पता चलती है कि *दोहरी* अवधारणा के अनुसार बच्चे के दो रूप हैं। पहला, बच्चा लचीला होता है। शिक्षा एक शक्तिशाली प्रक्रिया है और जो बच्चा इस प्रक्रिया से गुजरता है वह न केवल बौद्धिक रूप से बल्कि सामाजिक, भावनात्मक, मनोवैज्ञानिक और विमर्शात्मक रूप से भी बदल सकता है। किसी के जीवन को बदलने के लिए शिक्षा की शक्ति को अतिरंजित नहीं किया जा सकता। दूसरी अवधारणा यह है कि कुछ बच्चों को कभी नहीं बदला जा सकता। कुछ लोगों के भीतर एक ऐसा मूल भाव होता है जिसके कारण वे बदलाव का बहुत प्रतिरोध करते हैं।

हम इस दोहरी अवधारणा को स्वीकार करते हैं। जो बच्चे शिक्षा के प्रतिरोधी माने जाते हैं वे उन वर्गों और समुदाय के होते हैं जिन पर पहले से ही "पिछड़े होने" का ठप्पा लगा होता है। लेकिन विडम्बना यह है कि मध्यम वर्ग और आधुनिक परिवार में भी ऐसे कई बच्चे हैं। इसका मतलब यह हुआ कि किसी भी बच्चे में ऐसा दुराग्रह देखा जा सकता है – यह उसका व्यक्तिगत स्वभाव है।

हम अपने स्कूल में जो समाधान अपनाते हैं और जिसे हम दूसरों के सामने भी रखना चाहते हैं वह यह है कि दूसरी अवधारणा की उपेक्षा करें और पहली का विस्तार करने की दिशा में काम करें। जब शिक्षकों को यह बताया जाता है कि वे अपनी कक्षा में मौजूद विभिन्न प्रकार के बच्चों के साथ कैसे काम करें, किन तरीकों और विचारों को अपनाएँ (यानी जब विविधता को खास तौर पर सम्बोधित किया जाता है) तो वे पहली अवधारणा के अन्तर्गत काम करते हैं। वे इस बात को पहचानते हैं कि हमारी अवधारणाएँ हमारी अपनी संस्कृति

में होती हैं और फिर वे कल्पनाशीलता के साथ ऐसे शिक्षण की रचना करते हैं जो उनके लक्ष्य समूह में मौजूद हर बच्चे को शामिल कर सके।

आधुनिकता की अवधारणा

कई विद्वानों, शिक्षकों और सामान्य लोगों ने "भारतीय संस्कृति" को एक स्थिर अवधारणा माना, लेकिन इससे काफी कठिनाइयाँ पैदा हो सकती हैं क्योंकि तब हम समस्याओं के समाधान के बारे में सोच नहीं पाएँगे क्योंकि हमें लगेगा कि "संस्कृति" से निपटना बहुत बड़ी बात है। हमारा दृष्टिकोण यह है कि संस्कृति जटिल और बहुस्तरीय है, गतिशील और तरल है–या जैसा कि मैं समझती हूँ, इसमें कई अवधारणाएँ होती हैं। इसमें आधुनिकता के कुछ पहलुओं के बारे में अवधारणाएँ हैं, विशेष रूप से व्यक्तिवाद और पसन्द के बारे में, जो बच्चों के विकास में या तो बाधा डाल सकती हैं या उन्हें सशक्त कर सकती हैं। हम चाहें तो चयनित अवधारणाओं को उजागर करके अन्य को दरकिनार कर सकते हैं और जो संस्कृति के भीतर हैं वे सहज महसूस करेंगे एवं सहयोग देंगे।

संक्षेप में, यहाँ उद्देश्य यह है कि कक्षा को ठेठ अनुशासनात्मक नहीं होना चाहिए जहाँ एकमात्र अधिकार और सत्ता शिक्षक की हो। इस बात को मान्यता दी जानी चाहिए कि हर बच्चे की अपनी एक अलग पहचान है। शिक्षक व बच्चों की उम्र और विद्यार्थियों की पृष्ठभूमि व पारिवारिक अन्तर के बावजूद हर बच्चे को गरिमा व सम्मान दिया जाना चाहिए। इसे कक्षा की स्थानिक स्थिति, रोज के कामकाज के लिए बनाई गई प्रक्रियाओं व नियमों, अन्य बड़े कार्यों और भाषा के प्रयोग में व्यावहारिक रूप से व्यक्त किया जा सकता है। पाठ्यक्रम में इसे और अधिक सूक्ष्म रूप से व्यक्त किया जा सकता है, जिसमें प्रत्येक विषय ऐसे दृष्टिकोण से सिखाया जा सकता है जो बच्चों की रुचियों, अपने और अपने संसार के बारे में उनके विकासशील दृष्टिकोण, उनकी ऊर्जा और कल्पना शक्ति और अपने वर्तमान परिवेश से कहीं आगे बढ़ने की उनकी क्षमता का सम्मान करे। ऐसी योजनाएँ बनाई जा सकती हैं जहाँ बच्चों की आयु के हिसाब से कक्षा की सारी कार्य पद्धति लोकतन्त्र और समावेशीकरण के मौलिक सिद्धान्तों पर आधारित हों।

एक शिक्षार्थी के रूप में वयस्क

अपने आप को एक नई तरह से संकल्पित करने में शिक्षकों की मदद करनी होगी जिससे वे स्कूल की विचारधारा में इन गहन परिवर्तनों को ला सकें, उदाहरण के लिए–बच्चे के साथ ऐसा व्यवहार करना जैसे वह सदा सीखने के लिए सक्षम है, अपनी गति से सीखने में लगा हुआ है और दूसरों के बराबर है। वे भी उसी बहुस्तरीय बहुल अवधारणाओं का हिस्सा हैं जो भारतीय समाज और संस्कृति का गठन करती हैं। उदाहरण के लिए उनके अपने घरों में अनेक नियम होते हैं। लेकिन हो सकता है कि वहाँ समय के बारे में या व्यक्तियों के अधिकारों के बारे में कुछ बुनियादी नियमों की कमी हो जो स्कूल में बहुत आवश्यक हैं। शिक्षकों के स्कूली कार्यों पर उनके घर की संस्कृति का प्रभाव होता है, इसके बारे में चिन्तित होने की बजाय उसके साथ में काम करना चाहिए।

शिक्षकों के साथ काम करने के लिए हमने उन्हें सक्षम बनाने वाली तीन कार्यनीतियाँ विकसित की हैं ताकि वे उन दायरों से बाहर निकल सकें जिनमें वे यन्त्रवत बार–बार उन्हीं बातों को प्रस्तुत करते रहते हैं जिन्हें उन्होंने अपने कम गुणवत्ता वाले स्कूलों और सांस्कृतिक रूप से समृद्ध परिवारों में अनुभव किया।

(i) **बौद्धिक दृष्टिकोण** शिक्षकों को बुद्धिजीवी माना जाता है जो शिक्षित हैं, नए विचारों को पसन्द करते हैं और विश्लेषण कर सकते हैं। उन्हें चुनिन्दा व्याख्यानों और प्रासंगिक विषयों की चर्चा के माध्यम से सिखाया जाता है जैसे भारत में उपनिवेशवाद का प्रभाव, जाति, मीडिया, लिंग भूमिका आदि। शिक्षण विधि को बहुत ध्यानपूर्वक तैयार किया जाता है जिससे वह अन्तःक्रियात्मक हो और शिक्षण का ऐसा बेहतरीन नमूना हो कि जिसे अपने कार्याभ्यासों के साथ अपनाने में शिक्षक सहजता महसूस करें।

(ii) **तकनीकी दृष्टिकोण** शिक्षकों को चुस्त और चतुर पेशेवर कर्मी माना जाता है जिन्हें काम करने के लिए एक ऐसा स्थान और वातावरण दिया जाना चाहिए जहाँ वे अपेक्षित कामों को कर सकें– पेशेवर तौर पर अपने कर्तव्यों को पूरा करें और सक्रिय बच्चों के समूह के साथ कल्पनाशीलता के साथ काम करें। हम उन्हें बाल–केंद्रित कक्षा और एक सुचारु कार्यक्रम के लिए अधिकतम सहायता देने के साथ–साथ वे तरीके भी सुझाते हैं जिनके द्वारा कार्य के दर्शन को व्यावहारिक रूप दिया जा सके। इस डिजाइन में किताबों की अलमारियाँ, सामान रखने की जगह, सॉफ्ट बोर्ड, फर्श और बच्चों के बैठने की अनुकूल व्यवस्था, शिक्षण के संसाधन, प्रकाश और हवा शामिल है।

(iii) **अभिनय का दृष्टिकोण** शिक्षकों के लिए थिएटर सम्बन्धी खेल खेलना, अभ्यास करना और अभिनय की

प्राथमिक कलाओं में महारत हासिल करना जरूरी है। दार्शनिक रूप से देखा जाए तो इससे एक ऐसी क्षमता विकसित होती है जिससे अपने आप को, अपने व्यवहार को और अपने सामर्थ्य को पुनः संकल्पित किया जा सकता है। व्यावहारिक रूप से देखें तो इससे स्थल के साथ और अन्य लोगों जैसे सहकर्मियों व विद्यार्थियों के साथ कल्पनापूर्ण ढंग से काम करने तथा कार्यों को रचनात्मक रूप से करने के द्वार खुल जाते हैं। *बार–बार एक जैसा काम करते रहने के जाल से मुक्त होने और विलक्षण पुनर्रचना के किए थिएटर एक शक्तिशाली स्रोत है।*

समावेशीकरण की तकनीक

पाठ्यक्रम

अब हम भारतीय शिक्षा में परिवर्तन की दोहरी जरूरत के दूसरे भाग पर आते हैं, पहली थी समानता की राजनीति और दूसरी है समानता के लिए तकनीक। पाठ्यक्रम पर चर्चा और हमारा अपना अनुभव हमें बताता है कि एक ही विषय–वस्तु के कई सम्भावित दृष्टिकोण हैं, जिनमें से कुछ ऐसे हैं जो दूसरे बच्चों की तुलना में विशेष पृष्ठभूमि वाले बच्चों को हाशिए पर रख देते हैं। इससे भी बड़ी भारतीय समस्या यह है कि हमारे अधिकांश स्कूलों में शिक्षण इतना अरुचिकर है कि जो बच्चे बुद्धिमान हैं और सीखना चाहते हैं, वे भी स्कूल के काम नहीं करना चाहते और कमजोर विद्यार्थी बन जाते हैं या स्कूल ही छोड़ देते हैं। हमारे स्कूल में द्वि–शाखीय नीति है–पहली, शिक्षण को समृद्ध, पर्याप्त और रोमांचक बनाना ताकि बच्चे सीखने की ओर आकर्षित हों और अपना काम खुद पूरा कर सकें तथा स्वतन्त्र शिक्षार्थी बन सकें। अच्छी शिक्षा में बहिष्करण के चक्र को तोड़ने के लिए यह बात महत्त्वपूर्ण है कि बच्चे अपने गृहकार्य के लिए घर के बड़ों की सहायता पर निर्भर न रहें। दूसरा, हमारी नीति महत्त्वाकांक्षी है, जिसके तहत हम खुद पाठ और कार्यपुस्तिकाएँ तैयार करते हैं जिनमें सामुदायिक, स्थानीय और राष्ट्रीय आख्यानों का प्रयोग कल्पनाशीलता और विलक्षणता के साथ किया जाता है। कीरन एगन के विचारानुसार हम भी बच्चे की क्षमता पर विश्वास करते हैं कि वह एक कलाकार, कवि और दार्शनिक के रूप में इस विषय–वस्तु को समझ पाएगा जिससे वह परिचित तो है ही लेकिन जो बच्चे की कल्पनाओं के अनुसार अनोखी भी है।

अप्रत्यक्ष पाठ्यक्रम

यह आसान–सा सवाल पूछना कि," इससे बच्चा क्या सीखेगा?" यानी इस बारीकी पर ध्यान देना कि न पढ़ाना भी कभी–कभी पढ़ाना होता है। उदाहरण के लिए जब हम किसी हिन्दू त्योहार के बारे में बच्चों को सिखाते हैं कि यह क्या है, तो इससे बच्चों को पता चलता है कि इस त्योहार का बड़ों के लिए क्या महत्त्व है। अगर कोई मुस्लिम त्योहार है और हम बच्चों को उसके बारे में न सिखाएँ तो इससे बच्चों को पता चलता है कि उसके बड़ों के लिए इस त्योहार का महत्त्व नहीं है। दीवार पर लगे हुए चित्र, दीवार की प्रकृति, स्कूल के अन्दर और बाहर होने वाला हर कार्य और हर घटना बच्चों को यह सिखाती है कि उन्हें अपने, अपने से बड़ों और अपनी व बड़ों की दुनिया के बारे में कैसे सोचना चाहिए जिनके बारे में वे सीख रहे हैं।

निष्कर्ष

कार्य करना ही सबूत होता है। हमारा दृढ़ विश्वास है कि नीतियों को पढ़कर दावे नहीं किए जा सकते। पाठ्यक्रम का मतलब यह नहीं है कि हमने *योजना* बना ली है, असली बात तो उसका क्रियान्वयन है, हमारे इरादे क्या हैं, ये महत्त्वपूर्ण नहीं बल्कि उनका अनुभव करना महत्त्वपूर्ण है। शिक्षकों को उनके प्रशिक्षण के सालों या डिग्रियों के आधार पर नहीं बल्कि कक्षा में अवलोकन के आधार पर आँकना चाहिए। अतः ऊपर जो कुछ बताया गया है, वह साउथपॉइंट विद्याश्रम में रोज होने वाली एक विस्तृत योजना का छोटा–सा परिचय है। साउथपॉइंट विद्याश्रम बड़े गर्व के साथ सबको आमंत्रित करता है कि वे यहाँ आएँ, कार्य स्थल पर अवलोकन करें और यहाँ के दर्शन और अभ्यासों से सीखें।

नीता कुमार क्लेरमोंट मैकेना कॉलेज, क्लेरमोंट, कैलिफोर्निया में दक्षिण एशियाई इतिहास की ब्राउन फैमिली प्रोफेसर हैं। कारीगरों, शहरीकरण और सामाजिक परिवर्तन पर उनके लेख प्रकाशित चुके हैं। पिछले 25 वर्षों से वे अनेक परिप्रेक्ष्यों से भारतीय शिक्षा का अध्ययन कर रही हैं। उनकी पुस्तकों और लेखों में Artisans of Banaras (Princeton, 1998), Friends, Brothers and Informants (Berkeley, 1992), Women as Subjects (Virginia, 1994), Mai: A translation (Kali, 2001), Lessons from Schools (Sage, 2001), The Politics of Gender, Community and Modernities (Oxford, 2007); आदि शामिल हैं और वे 'Managing a School in India' और 'Education and the Rise of a New Indian Intelligentsia' नामक दो पुस्तकों पर काम कर रही हैं। 1990 से वे वाराणसी, भारत में नवाचारी शिक्षा के क्षेत्र में सेवाकार्य और उसके अनुसमर्थन से जुड़ी हुई हैं। इसके लिए वे पाठ्यक्रम, बच्चों के लिए कहानियों, कला की सामग्री और शिक्षक प्रशिक्षण एककों को विकसित करने के लिए बच्चों, शिक्षकों और परिवारों के साथ काम कर रही हैं (www.nirman.info)। उनसे nita.kumar@claremontmckenna.edu पर सम्पर्क किया जा सकता है।
अनुवाद : नलिनी रावल

हांगकांग से एक नवाचार

अनुराधा नायडू

किण्डरगार्टन के बच्चों का एक छोटा सा समूह कतारबद्ध होकर अपनी कला की कक्षा में दाखिल हो रहा था और मैं दरवाजे पर खड़ी होकर उन्हें देख रही थी। ये बच्चे प्रत्याशा से भरे हुए थे। मेरी युवा सहयोगी रोज़लीन अपनी कला की कक्षा कुछ इस तरह से नियोजित करती थी कि उसमें हर बच्चे के लिए सीखने या करने के लिए कुछ न कुछ होता था। जब मैंने उसे बच्चों के साथ काम करते हुए देखा तो मैं विस्मित रह गई। उसका कहना था कि खुद अपनी पसन्द के अनुसार काम करना बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। हर बच्चा रचनात्मक होता है और उसकी अपनी एक अनोखी शैली होती है। बच्चों के विचार भी अलग–अलग होते हैं, कुछ बच्चे 'एक्शन' चाहते हैं और तीन या चार के समूह में काम करना पसन्द करते हैं। वे समूह में बहुत खुश रहते हैं। कुछ ब्रश के साथ काम करने में महारत हासिल करना चाहते हैं और अकेले काम करना पसन्द करते हैं तो कुछ नई खोज करने की स्वतंत्रता चाहते हैं। रोज़लीन अपनी किण्डरगार्टन की कक्षा में विशेष आवश्यकता वाले बच्चे को लेने के लिए हमेशा तैयार रहती थी। उसका मानना था कि बच्चों को दयालु होना और दूसरों की देखभाल करना सिखाना आवश्यक है क्योंकि यही जीवन की नींव रखने का तरीका है। रोज़लीन एक रचनात्मक शिक्षिका थी और मुझे उसके साथ काम करना अच्छा लगता था। हम हमेशा मिलकर समस्याओं का समाधान खोजते और वह खुशी–खुशी नई रणनीतियों को अपनाने की कोशिश करती तथा कुछ हफ्तों बाद मुझे उसके बारे में अपनी प्रतिक्रिया देती। जल्द ही हम एक–दूसरे को अच्छी तरह से समझने लगे और ऐसे नए–नए तरीकों को तैयार करने में लग गए जिनमें जॉन को शामिल करना था। जॉन स्वलीनता स्पेक्ट्रम (Autism Spectrum[1]) के अन्तर्गत आता था और जब कक्षा में बच्चे मिल–जुलकर गाते, खेलते या मस्ती करते तब वह चुपचाप बाहर निकल जाता।

कला की कक्षा शुरू हो चुकी थी। चूँकि उस रोज की कक्षा का फोकस एक मछली[2] थी, इसलिए सभी बच्चे भावनात्मक रूप से काफी जोर–शोर से भाग ले रहे थे। इन बच्चों के कक्षा में आने के काफी देर बाद जॉन आया। वह समझ नहीं पा रहा था कि पेंटिंग की इस कक्षा में वह क्या करे। रोज़लीन ने सुबह हांगकांग के बाजार से ताजी पॉम्फ्रेट (एक प्रकार की समुद्री मछली) खरीदी थी। हवा में पोस्टर पेंट की गंध के साथ मछली की गंध भी घुल गई थी। रोज़लीन की योजना यह थी कि इस असामान्य चित्र प्रायोजना के माध्यम से समुद्री संसार को जीवन्त कर दिया जाए। हर बच्चे को मछली में रंग भरने का अवसर तो मिला ही साथ ही वे अपने आर्ट पेपर को उस पर रगड़कर उसके शल्क के पैटर्न समझने का प्रयास भी कर पाए। जॉन हिचकते हुए यह सब देख रहा था। मैं अपनी साँस रोके यह सोच रही थी जॉन, जिसके साथ असंख्य संवेदी मुद्दे जुड़े हुए हैं, पर इस कक्षा का क्या असर पड़ेगा। क्या वह रंगों और मछली को छुएगा? कहीं यह गंध उसे परेशान तो नहीं करेगी? क्या वह शिक्षिका की मदद लेगा? क्या वह उन दूसरे बच्चों के साथ बैठेगा जो अपनी बारी का इन्तजार कर रहे थे? क्या इस अपरिचित स्थिति की वजह से बात बिगड़ तो नहीं जाएगी?

---

[1] *स्वलीनता मस्तिष्क सम्बन्धी एक विकार है जो मस्तिष्क के सामाजिक और भावनात्मक क्षेत्रों को प्रभावित करता है और इससे सम्प्रेषण, सामाजिक सम्बन्धों और कल्पनाशीलता से जुड़ी चुनौतियाँ पैदा होती हैं। यह विकार दो से तीन साल की उम्र में नजर आता है और लड़कों में आम है।*
http://www.thenationaltrust.co.in/nt/index.php?option=com_content&task=view&id=30&Itemid=130

[2] *मुख्यधारा में संवेदी खेलों के लिए जो विचार हैं, उनमें पानी और रेत के टेबल, उंगली पेंटिंग, प्लेडो, छपाई, बुलबुले और बर्फ शामिल हैं। किण्डरगार्टन में प्लास्टिक की एप्रन, मेजपोश और कपड़े धोने की मशीन हो तो सफाई आसान हो जाएगी।*

मेरा दिल जोरों से धड़क रहा था। जॉन और मैं, एक दूसरे के साथ कई महीनों से काम कर रहे थे ताकि जॉन के दिल से नई बनावटों और ध्वनियों के डर को दूर किया जा सके। यह हमारे लिए एक बहुत महत्त्वपूर्ण पल था। रोज़लीन अपने सबक को आगे बढ़ाती गई। उसने एकदम स्पष्ट और सटीक चरणों में दिखाया कि मछली और पेंट का उपयोग कैसे किया जाए। उसने बारी–बारी से हर बच्चे को आगे आने के लिए कहा। बच्चे अकेले या समूहों में अपने रचनात्मक काम में लगे रहे और मछली के चित्रों में मानसूनी सलेटी और इन्द्रधनुषी रंग भरते रहे। कमरे में शान्ति थी। जॉन सावधानी से देख रहा था। जब सबकी बारी आ चुकी तब रोज़लीन ने जॉन की ओर देखा और कहा," आगे बढ़ो!" जब जॉन आगे की ओर दौड़ा तो मेरी खुशी का ठिकाना न रहा! वाकई, यह हमारे लिए एक बहुत महत्त्वपूर्ण पल था!

मैं अकसर खुद से यह पूछती हूँ कि किसी समावेशी किण्डरगार्टन कक्षा में शिक्षक को अनुसमर्थन देने का सबसे अच्छा तरीका क्या होगा। मैं विशेष रूप से एक प्रारम्भिक अंतःक्षेपक (Early Interventionist) हूँ और इस नाते कह सकती हूँ कि कक्षा के आसपास रहते हुए उसका अवलोकन करना लाभप्रद होता है क्योंकि तब आप सही समय पर शिक्षक के प्रयासों की सराहना कर पाते हैं। विश्लेषण तो बाद में आता है। प्रेम की गर्माहट और सम्मान सहयोग के आधार हैं। सारी चुनौतियों के बावजूद यह प्रक्रिया सफल होती है!

Pictures source:
http://www.learning4kids.net/list-of-sensory-play-ideas/

अनुराधा नायडू अभी हाल तक एक प्रारम्भिक अन्तःक्षेपक के रूप में **0–6** वर्ष के विशेष आवश्यकता वाले बच्चों के साथ हांगकांग में कार्यरत थीं जो प्रारम्भिक शिक्षा केन्द्र के तत्वावधान में गैर चीनी भाषा–भाषी आबादी के लिए हांगकांग सरकार द्वारा समर्थित कार्यक्रम था। वे **20** वर्ष पहले विद्या सागर, चेन्नई, से एक विशेष शिक्षिका के रूप में प्रशिक्षित हुईं और वहाँ उनका परिचय पारविषयक (Trans-disciplinary) दृष्टिकोण से हुआ। उनके कार्य में इसका विकास देखा जा सकता है। वे अपने विद्यार्थियों की अधिगम प्रक्रिया को रोचक बनाने के लिए चिकित्सा, शिक्षा और वैकल्पिक संप्रेषण को लगातार एक साथ बुनती चलती हैं। उनसे anuradha.naidu@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : नलिनी रावल

संसाधन कक्ष बनाम बाह्य समर्थन

रीना रयाल

यह लेख इस बात का विश्लेषण करता है कि संसाधन कक्ष बनाए रखने में नियमित शिक्षक, प्रधानाध्यापक और प्रबन्धक वर्ग किस प्रकार से सहायता कर सकते हैं।

पिछले कई वर्षों से यह बात देखने में आई है कि शिक्षकगण विशेष आवश्यकता वाले बच्चों को नियमित कक्षा में समावेशित करने की नीति के बारे में उदासीन होते हैं। इसके कई कारण हैं जैसे इन बच्चों को सीखने–पढ़ने में लगने वाला समय, खराब प्रदर्शन, अन्य बच्चों पर इसका प्रभाव आदि और साथ में उन्हें यह भी लगता है कि ऐसी स्थितियों का सामना करने के लिए उनका प्रशिक्षण और कौशल पर्याप्त नहीं है। शिक्षकों का नजरिया बच्चों के अधिगम परिणामों को प्रभावित करता है[1] और अगर नजरिया नकारात्मक हो तो बात गम्भीर हो जाती है। संसाधन कक्ष एक ऐसा कक्षा कक्ष है जहाँ पर बच्चे IEP (Individual Educational Programme) में बताए गए लक्ष्यों को हासिल करने के लिए व्यक्तिगत रूप से अकादमिक शिक्षण प्राप्त कर सकते हैं जिससे उन्हें कक्षा में अपना प्रदर्शन बेहतर करने के तरीकों को सीखने में मदद मिलेगी। पठन वैकल्य (dyslexiaa) और अधिगम सम्बन्धी अन्य असुविधाओं वाले बच्चों के लिए संसाधन कक्ष खासतौर पर फायदेमन्द होते हैं क्योंकि उन्हें प्रत्यक्ष व्यक्तिगत शिक्षण की जरूरत होती है। संसाधन कक्ष में बच्चों को एक सकारात्मक माहौल में सीखने का मौका मिलता है। भारत में अभी तक संसाधन कक्ष की सुविधा या अधिगम समर्थन सुविधा की अवधारणा का प्रचलन नहीं हो पाया है। हालाँकि इस मामले में जागरूकता बढ़ी है लेकिन अभी भी प्रधानाध्यापक और प्रबन्धक वर्ग संसाधन कक्ष व शिक्षा के क्षेत्र के बीच की महत्त्वपूर्ण कड़ी को देख नहीं पा रहे हैं। अधिकांश स्कूल यह सोचते हैं कि वे संसाधन कक्ष के बिना भी काम चला सकते हैं क्योंकि विशेष शिक्षा को एक ऐसे विशेष क्षेत्र के रूप में देखा जाता है जो बहुत कम बच्चों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए है, जो स्कूल पर अतिरिक्त आर्थिक बोझ डालती है और इसलिए वह वैकल्पिक है। सूक्ष्म विश्लेषण से यह बात साफ हो जाएगी कि शैक्षिक समस्याओं को जल्दी पहचानना कितना जरूरी और फायदेमन्द है और उन्हें जल्दी सुलझाने से न केवल अधिगम समर्थन की अपेक्षा रखने वाले कुछ बच्चों के वरन पूरी कक्षा के प्रदर्शन में सुधार हो सकता है।

संसाधन कक्ष का वास्तविक उद्देश्य

संसाधन कक्ष का सही अर्थ न जानने की वजह से उसे एक ऐसा स्थान मान लिया जाता है जहाँ 'बेकाबू' बच्चों को लाकर छोड़ दिया जाए। नियमित शिक्षकगण समझते हैं कि संसाधन कक्ष कक्षा की मुसीबतों का विकल्प है। लेकिन संसाधन कक्ष के अनेक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य हैं जैसे –

- संसाधन कक्ष का एकमात्र उद्देश्य है व्यक्तिगत और नवाचारी शिक्षण विधियों के माध्यम से ऐसे बच्चे की अन्तर्निहित क्षमता को बाहर निकालना जिसका प्रदर्शन टेस्ट या परीक्षा में अपनी वास्तविक क्षमता से कम है।
- संसाधन कक्ष में इस बात की अद्भुत और अहम क्षमता है कि अधिगम की कठिनाइयों को जल्द से जल्द पहचानकर उसका आकलन कर सके और किण्डरगार्टन के स्तर से ही उन समस्याओं के समाधान हेतु कार्यक्रमों की योजना बनाए।
- इससे उन बच्चों की संख्या काफी कम हो जाती है जिनमें द्वितीयक कारणों से अधिगम की समस्याएँ पैदा होती हैं। संसाधन कक्ष से उन बच्चों को भी मदद मिलती है जिनमें ये समस्याएँ देर से पैदा होती हैं।
- संसाधन कक्ष एक अनजान और भुला दी गई कड़ी है – नियमित शिक्षकों के दुखों का जवाब है – जैसे

[1] *Good, T.L., & Brophy, J.E. (1997). Looking in classrooms (seventh edition). New York: Longman.*

गणित का वह शिक्षक जो इस बात को लेकर परेशान है कि बच्चों में इबारती सवालों को समझने का कौशल कैसे विकसित किया जाए या गुणन सिखाने के विभिन्न तरीके कौन–से हैं या फिर इतिहास का शिक्षक जो प्रत्येक पाठ की माइण्ड मैपिंग न कर पा रहा हो।

- संसाधन कक्ष सभी विषयों के सभी पाठों के लिए कक्षा की गतिविधियों का खजाना है। अगर नियमित शिक्षकों और संसाधक शिक्षकों के बीच एक व्यवस्थित अन्तःक्रियात्मक प्रक्रिया बना दी जाए तो विचारों का आदान–प्रदान, ज्ञान का आदान–प्रदान और रचनात्मकता एक ऐसी स्थिति पैदा कर सकती है जहाँ हो सकता है कि संसाधन कक्ष की जरूरत ही न पड़े, क्योंकि हर शिक्षक उन तरीकों से परिचित हो गया होगा जिनके द्वारा वह कक्षा में हर जरूरतमन्द विद्यार्थी की व्यक्तिगत रूप से सहायता कर पाएगा।

संसाधन कक्ष की सफलता में बाधक मानसिकता

संसाधन कक्ष के अस्तित्व को बनाए रखने में कई बाधाएँ हैं। स्कूल प्रबन्धन को खर्च का भय होता है, नियमित शिक्षक इस बात से डरते हैं कि उन्हें अपनी कक्षाओं को चलाने के तरीकों के बारे में सीखने के लिए अतिरिक्त कार्यशालाओं में भाग लेना पड़ेगा, माता–पिता को यह भय होता है कि उनके बच्चों पर ठप्पा लग जाएगा और बच्चे इसलिए डरते हैं कि वे न केवल उपहास की वस्तु बन जाएँगे बल्कि उन्हें उनके पसन्दीदा कालांशों जैसे कला, संगीत, खेल आदि में संसाधन कक्ष में भेज दिया जाएगा। इसलिए यह कहना उचित होगा कि चुनौती हर किसी की मानसिकता में है।

- **प्रधानाध्यापक और स्कूल प्रबन्धन** : प्रधानाध्यापक और स्कूल प्रबन्धन को चाहिए कि वे दीर्घकालिक लाभ का ध्यान रखते हुए एक या दो विशेष शिक्षकों को नहीं बल्कि विशेष शिक्षकों की टीम में निवेश करें। एक ऐसी टीम जो स्कूल के सभी शिक्षकों को नियमित रूप से प्रशिक्षण दे सके ताकि अलग–अलग प्रोफाइल वाले बच्चों की मदद करने में शिक्षकों की क्षमता बढ़े। आज हर कक्षा में विभिन्न प्रकार के बच्चे होते हैं जिनका ध्यान रखा जाना चाहिए। अगर स्कूल चाहता है कि उसके विद्यार्थियों के परीक्षाफल का स्तर बढ़े, शिक्षा के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को वह ऊँचा उठाए और एक 'अच्छे' स्कूल के रूप में उसे मान्यता मिले तो उसे इस बात का ध्यान रखना होगा कि बच्चों की समस्या को जल्दी पहचाने, अनौपचारिक आकलन करे और उपचारात्मक सहायता प्रदान करे। मुश्किल तब पैदा होती है जब प्रधानाध्यापक अधिगम की असमर्थता से अनभिज्ञ होते हैं और उनमें यह जागरूकता नहीं होती कि यह समस्या बढ़ रही है। जब स्कूल में विशेष शिक्षा के शिक्षकों की आवश्यकता को औषधि के रूप में न लेकर केवल विकल्प मान लिया जाता है और उनके वेतन को अतिरिक्त खर्चे के रूप में देखा जाता है तो ऐसी मानसिकता को अनुदार दृष्टिकोण न कहें तो क्या कहें? दूसरी ओर, यदि संसाधन कक्ष को प्रधानाध्यापक और प्रबन्धन वर्ग का समर्थन मिले तो साल–दर–साल कई ऐसे बच्चों को जरूरी सहायता मिलती रहती है जो शायद इसके अभाव में अगली कक्षा तक न पहुँच पाते। तब संसाधन कक्ष एक ऐसा चिकित्सालय बन जाता है जहाँ शीघ्र उपचार को अच्छा उपचार माना जाता है। देखने में आया है कि संसाधन कक्ष के प्रति प्रबन्धन वर्ग के रवैये से बहुत फर्क पड़ता है। अधिगम की असमर्थता वाले बच्चों को पढ़ाने के लिए शिक्षक किन तरीकों का इस्तेमाल करते हैं, उनके साथ कैसा व्यवहार करते हैं–इन सारी बातों पर प्रधानाध्यापक के समर्थन का बहुत असर पड़ता है[2]। जब शिक्षकों को स्कूल प्रशासन का सहयोग मिलता है तब वे असमर्थ बच्चों के साथ अधिक समायोजन करते हैं[3]।

- **नियमित शिक्षकों का नजरिया** : अधिगम सम्बन्धी असमर्थता वाले विद्यार्थियों को कक्षा में एकीकृत करने की मुख्य बाधाओं में से एक है शिक्षक का नजरिया[4]। यह बात बहुत निराशाजनक है क्योंकि

[2] *Ross-hill(2009) Teacher attitude towards inclusion practices and special needs students. Journal of Research in Special Educational Needs Volume 9, Issue 3, November 2009*

[3] *Soodak, L.C.; Podell, D.M.; Lehman, L.R. (1998). Teacher, student, and school attributes as predictors of teachers' responses to inclusion. Journal of Special Education, 31 (4), pp. 480-498*

[4] *Avramidis, E. & Norwich, B. (2002). Mainstream teachers' attitudes towards inclusion/integration: a review of the literature. European Journal of Special Needs Education, 17(2), 1-19.*

बच्चे को अधिगम में सहायता प्रदान करने की पूरी प्रक्रिया अलग–थलग रूप में नहीं हो सकती। यह तो एक शृंखला है जिसमें अगर एक कड़ी भी कमजोर हो तो शृंखला टूट जाती है। जब इस बात की पहचान हो जाती है कि किसी बच्चे में अधिगम सम्बन्धी असमर्थता है तो उचित यही है कि उसकी सहायता की जाए ताकि उसके अकादमिक प्रदर्शन में सुधार हो सके। अगर सामान्य शिक्षकों में यह प्रतिबद्धता नहीं है तो संसाधन कक्ष टिक नहीं पाएगा। यदि सभी शिक्षकों में संसाधन कक्ष के प्रति एक उत्साही रवैया पैदा करना है तो यह जरूरी है कि शिक्षकों को कक्षा में समावेशी पद्धति, सेवा पूर्व प्रशिक्षण और अधिगम प्रक्रिया के बारे में नियमित अन्तर्दृष्टि के माध्यम से सकारात्मक अनुभव प्रदान करवाए जाएँ। एक महत्त्वपूर्ण अध्ययन सुझाता है कि समावेशन के प्रति शिक्षक का नजरिया, समावेशी कक्षा में उनके पिछले अनुभवों से प्रभावित होता है[5], इससे ज्ञात होता है कि संसाधन कक्ष और इससे सम्बन्धित गतिविधियों का महत्त्व कितना ज्यादा है।

- **शिक्षक प्रशिक्षण**

  भारत में शिक्षक प्रशिक्षण कोर्स विशेष शिक्षा की जरूरतों को पर्याप्त रूप से सम्बोधित करने में नाकाम रहे हैं। शिक्षक या तो विभेदक शिक्षण से अनजान हैं और अगर जानते भी हैं तो इसे अपनाते नहीं। संसाधन कक्ष की सफलता के लिए यह जरूरी है कि भले ही नियमित शिक्षक अधिगम सम्बन्धी असमर्थता के क्षेत्र में प्रशिक्षित न भी हों, पर उन्हें इसके बारे में कुछ ज्ञान तो होना ही चाहिए। वर्तमान प्रशिक्षण में शिक्षकों को अधिगम सम्बन्धी असमर्थता वाले बच्चों के बारे में कुछ नहीं बताया जाता। इसलिए धारणा यह है कि संसाधन कक्ष एक ऐसा कमरा है जहाँ विशेष शिक्षक उन बच्चों की देखभाल करते हैं जो कक्षा के स्तर तक नहीं पहुँच पाते, और कक्षा के शिक्षक ऐसे बच्चों पर 'बुरा व्यवहार करने वाले बच्चे' का ठप्पा लगा देते हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि इन बच्चों को वाकई सीखने में मुश्किल पेश आती है, उन्हें पढ़ने, स्पेलिंग और लिखने में दिक्कत होती है। शिक्षक ऐसा इसलिए सोचते हैं क्योंकि वे बच्चों के लक्षणों को ठीक तरह से पहचान पाने में असमर्थ होते हैं। संसाधन कक्ष के प्रति एक अवमानना का भाव है जो बच्चे के सुधार को कम महत्त्व देता है। आज विशेष शिक्षा की जरूरत वाले बच्चे हर कक्षा में मौजूद हैं और यह संख्या बढ़ रही है, इसलिए सभी प्रशिक्षण संस्थानों में पाठ्यक्रम में सुधार और उसे अद्यतन करना बहुत आवश्यक है। जिन स्कूलों में ऐसे शिक्षकों की नियुक्ति की जाती है जो अधिगम सम्बन्धी असमर्थता वाले बच्चों को पढ़ाने के इच्छुक हैं, वहाँ संसाधन कक्ष के प्रति दृष्टिकोण बहुत सकारात्मक होता है। इस वजह से संसाधन कक्ष, कक्षा और माता–पिता के बीच प्रभावी सम्प्रेषण सम्भव हो पाता है। यही नहीं इससे कक्षा का वातावरण भी सहायतापूर्ण हो जाता है क्योंकि शिक्षक अधिक लचीले, धैर्यवान, किसी भी स्थिति से निपटने के लिए तैयार और उत्साह बढ़ाने वाले होते हैं। जब कक्षा शिक्षक सहायक होते हैं तो बच्चे को अधिक समय, सहायता और विकल्प मिलते हैं। ऐसे शिक्षक संसाधन कक्ष के साथ मिलकर कार्य करते हैं और आकलन के लिए बच्चों को पहचानने में मदद करते हैं, कार्यनीतियों को साझा करते हैं तथा अधिगम सम्बन्धी असमर्थता वाले बच्चों की अकादमिक सफलता के लिए काम करते हैं।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अधिगम में समर्थन कोई विकल्प नहीं है – यह हर बच्चे का अधिकार है। यह एक सच्चाई है कि कक्षा में विभेदक शिक्षण एकमात्र विकल्प है और ऐसी स्थिति में संसाधन कक्ष वह आधार है जो न केवल विशेष शिक्षा से सम्बन्धी विभिन्न सेवाएँ प्रदान करता है बल्कि सामान्य शिक्षा को भी अपने दायरे में ले आता है।

[5] *Leatherman1, Jane M. Teachers' Attitudes Toward Inclusion: Factors Influencing Classroom Practice. Journal of Early Childhood Teacher Education Vol 26(1) 2005*

डॉ. रीना रयाल अधिगम असमर्थता के क्षेत्र में एक संज्ञानात्मक मनोवैज्ञानिक और विशेष शिक्षिका हैं। वे वृन्दावन एजुकेशन ट्रस्ट, जयनगर, बेंगलूरु, के साथ जुड़ी हुई हैं जो अधिगम सम्बन्धी असमर्थता वाले बच्चों के शिक्षण, प्रशिक्षण और आकलन का केन्द्र है और पिछले **15** वर्षों से बच्चों, शिक्षकों और माता–पिता के साथ कार्यरत है। उन्होंने हाल ही में शिक्षकों और अभिभावकों के लिए 'The Indian Resource Room' शीर्षक पुस्तक लिखी है। वे शिक्षा से सम्बन्धित मुद्दों पर 'डेक्कन हेराल्ड' में नियमित रूप से लिखती रहती हैं। उनसे drreenaryall@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : नलिनी रावल

मददगार हाथ: समावेशन का एक अलग दृष्टिकोण

सरला मोहन राज

"अगर कोई बच्चा हमारे पढ़ाने के तरीके से नहीं सीख रहा तो शायद हमें उसके सीखने के तरीके से पढ़ाना चाहिए"। अधिगम सम्बन्धी कठिनाइयों की वजह से जो बच्चे मुख्यधारा की शिक्षा की माँगों का सामना करने में असमर्थ हैं–उन बच्चों की मदद करने में Ignacio Estrada के ये शब्द हमारा मार्ग दर्शन करते हैं। इन बच्चों का स्तर अपनी कक्षा के अन्य बच्चों से कम होता है इसलिए वे अपने को अक्षम महसूस करते हैं और उनमें आत्मसम्मान और आत्मविश्वास की कमी हो जाती है। ऐसे बच्चों की मदद करने के लिए विद्या निकेतन स्कूल में हमने 12 से 15 वर्ष के बच्चों (सातवीं से दसवीं कक्षा) के लिए वैकल्पिक अध्ययन का एक विभाग खोला है। इसके द्वारा हम बच्चों की मदद करके समाज की बेहतरी में योगदान देना चाहते हैं। हमारे स्कूल में यह पहल पिछले 12 वर्षों से जारी है।

अकादमिक कठिनाइयों वाले किशोरों की जरूरतों को समझकर हम उनके सर्वांगीण विकास, सामाजिक – भावनात्मक अधिगम और रूहानी व मनोवैज्ञानिक खुशहाली पर ध्यान केन्द्रित करते हैं। किसी भी किशोर को स्कूली जीवन से सिर्फ इसलिए वंचित नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि वह अकादमिक पाठ्यक्रम की माँगों को पूरा नहीं कर पा रहा है। एक शिक्षक होने के नाते हम यह बात जानते हैं कि विद्यार्थियों से जिस अकादमिक ज्ञान के अधिग्रहण की अपेक्षा की जाती है, उससे कहीं अधिक गहरा अधिगम स्कूल के वातावरण में उपस्थित रहने मात्र से हो जाता है। हमारा उद्देश्य ऐसे विद्यार्थियों को स्कूली वातावरण उपलब्ध कराना है जो अन्यथा स्कूल छोड़ देते या मुख्यधारा के अकादमिक पाठ्यक्रम की माँगों को पूरा न कर पाने के कारण बार–बार "फेल" होते। हमारे विद्यालय में ऐसे विद्यार्थी मुक्त विद्यालयी पाठ्यक्रम का अनुसरण करते हैं, स्कूल भी आते हैं और एक जिम्मेदार नागरिक बनने के लिए कई कौशल सीखते हैं जैसे विभिन्न आयु वर्ग के लोगों के साथ बातचीत करने के लिए आवश्यक सामाजिक कौशल, व्यवहार कौशल, समाज की बारीकियों और अपेक्षाओं को समझने का कौशल आदि। ऐसा अधिगम स्कूली वातावरण में ही सम्भव है जिसमें बहुत कुछ सीखने का अवसर मिलता है।

इस तथ्य को सभी मानते हैं कि "बच्चे को अधिक उपलब्धियाँ तब हासिल होती हैं जब वह भीतर से सुरक्षित महसूस करे, उसे महत्त्व दिया जाए, उससे प्रेम किया जाए और जब वह खुद में विश्वास तथा खुद पर गर्व करे।" यही सब पाने में हम बच्चे की सहायता करते हैं। हमारे स्कूल का वातावरण यह सुनिश्चित करता है कि बच्चों को सामाजिक सम्पर्क, भावनात्मक संवर्धन और व्यक्तित्व विकास के अनेक अवसर उपलब्ध कराए जाएँ। हम यह मानते हैं कि हर बच्चा अद्वितीय है और उसमें विशेष सामर्थ्य है जिसे प्रस्फुटित होने का अवसर मिलना चाहिए। उन्हें अपने पसन्दीदा पाठ्येतर गतिविधि में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। हम अपने विद्यार्थियों को इस बात में सशक्त करने की कोशिश करते हैं कि वे सामाजिक और भावनात्मक रूप से सक्षम व्यक्ति बन पाएँ। प्रातःकालीन सभा, खेल के कालांश, खेल दिवस, वार्षिक कार्यक्रम, स्नातक दिवस आदि में जब ये विद्यार्थी मुख्यधारा के विद्यार्थियों के साथ मिलते–जुलते हैं तब एकीकरण और समावेशन भी हो जाता है। साथ ही साथ अकादमिक क्रियाकलापों के लिए उन्हें कम संख्या वाले बच्चों की कक्षा में पढ़ने और अपनी गति के अनुसार आगे बढ़ने का लाभ मिलता है, जहाँ उन्हें मुक्त विद्यालयी परीक्षा के लिए पढ़ाया और तैयार किया जाता है। हमारा उद्देश्य यही है कि वे स्कूल में उपलब्ध सभी सुविधाओं का लाभ उठाएँ जैसे स्कूल का बुनियादी ढाँचा, पाठ्य सहगामी क्रियाएँ या स्कूल का सामाजिक जीवन आदि और साथ ही अपनी माध्यमिक शिक्षा भी पूरी कर पाएँ।

अकादमिक कठिनाइयों वाले बच्चों के माता–पिता में अब जागरूकता और स्वीकरण बढ़ रहा है, इसलिए हमने इस अकादमिक सत्र से सातवीं कक्षा के 12 वर्षीय बच्चों को भी इस कार्यक्रम में शामिल किया है। हमारे बच्चों को जिन व्यावहारिक समस्याओं का सामना करना पड़ता है, उनके लिए हम नए–नए समाधान और तरीके ढूँढ़ते रहते हैं। हम भली–भाँति जानते हैं कि अपने विद्यार्थियों को सक्षम बनाने के लिए टीमवर्क (टीम में विद्यार्थी उनके माता–पिता, शिक्षकगण और स्कूल शामिल हैं) कितना आवश्यक है और इसीलिए जब तक बच्चे हमारे साथ रहते हैं तब तक हम उनकी वृद्धि और विकास के हर कदम पर अभिभावकों को भी शामिल करते हैं।

हमारे विद्यार्थियों का आत्मविश्वास और आत्म–गौरव कैसे बढ़ता है?

हर सत्र में एक बार हम विद्यार्थियों को 1200 विद्यार्थियों और 100 शिक्षकों के सामने स्कूल सभा का संचालन करने का अवसर देते हैं। उन्हें पूरे स्कूल के सामने अपनी प्रतिभा दिखाने के अवसर दिए जाते हैं और वे मुख्यधारा के विद्यार्थियों के साथ स्वतन्त्रता दिवस व शिक्षक दिवस समारोहों में भी भाग लेते हैं। ऐसे हर प्रदर्शन के बाद उनमें उपलब्धि और सफलता का भाव उत्पन्न होता है तथा उन्हें अपनी क्षमताओं पर गर्व होता है एवं इस कारण से उनका भावनात्मक, सामाजिक और मनोवैज्ञानिक आत्मविश्वास बढ़ता है। अकादमिक दृष्टि से देखें तो जब ये बच्चे अपने ऐसे साथियों के साथ मुक्त विद्यालयी पाठ्यक्रम का अनुसरण करते हैं जिन्हें भी अधिगम सम्बन्धी कठिनाइयाँ हैं तो उन्हें यह महसूस होता है कि राहें इतनी कठिन भी नहीं हैं।

हमारे स्कूल का वातावरण विद्यार्थियों की सफलता के लिए प्रारम्भिक सोपान है जो माध्यमिक शिक्षा पूरी करने में उनकी मदद करता है। हमारे विद्यार्थियों में से 99% विद्यार्थी मुक्त विद्यालय के माध्यम से दसवीं कक्षा की पढ़ाई पूरी करके वापस मुख्यधारा की शिक्षा में चले जाते हैं और यह बात हमें बहुत संतुष्टि देती है। हमारे पास आने के बाद जब हर विद्यार्थी जीवन में आगे बढ़ने के लिए कदम आगे बढ़ाता है तो हम खुशी और गर्व की भावना से भर जाते हैं।

हमारे यहाँ समावेशी शिक्षा की जो प्रणाली है वह भले ही उसके शाब्दिक अर्थ से भिन्न हो या अन्य स्थानों पर चल रही प्रणाली से अलग हो, लेकिन उससे हमारे विद्यार्थियों, अभिभावकों और शिक्षकों को बहुत लाभ हुआ है। पिछले कई वर्षों से अपने विद्यार्थियों का विकास, अनुसमर्थन, मार्गदर्शन और कोचिंग करते हुए हमने यह अनुभव किया और यही सीखा है कि **इस प्रकार का समावेशन भी उनकी क्षमता को प्रकट कर सकता है।**

References:

- The Heart of A Teacher, Paula Fox.
- Inclusion Summit 2013, Poonam Natarajan, Chairperson, National Trust

---

सरला मोहन राज विद्या निकेतन स्कूल, बेंगलूरु में वैकल्पिक अध्ययन विभाग की प्रधान अध्यापिका और परामर्शदाता हैं। उनसे saralamohanraj@yahoo.com पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : नलिनी रावल

शैक्षिक अधिकार और शिक्षण की चुनौतियाँ: समावेशन और उसका तरीका

सिद्धि व्यास

समावेशन को अमल में लाने के लिए स्वीकरण या अपनाने का नजरिया जरूरी है। भारत में धर्मों, रीति–रिवाजों, भाषाओं और संजातीयता की इतनी विविधताएँ हैं कि हमें पेशेवर, सामाजिक और व्यक्तिगत रूप से समावेशन करने और भिन्नताओं के स्वीकरण या अपनाने के अनेक अवसर मिलते हैं। हम अपने दिन–प्रतिदिन के कार्यों तथा सामाजिक और व्यक्तिगत व्यवहारों में समावेशन और बहिष्करण करते ही रहते हैं। इस प्रकार समावेशन की अवधारणा भारतीय समाज या इसकी प्राचीन और/या पारम्परिक प्रथाओं के लिए नई बात नहीं है क्योंकि हमारी स्थिति और हमारे सन्दर्भ में बहुत सारी विविधताएँ हैं। कुछ उदाहरण देखें– कौटिल्य (c.320 ई.पू.) ने अपनी प्रस्तुति *गाँवों का गठन, सरकारी अधीक्षकों के कर्तव्य* में उल्लेख किया है कि समुदाय के जो लोग अपनी देखभाल करने में असमर्थ हैं, उनके लिए राज्य और समाज की क्या जिम्मेदारियाँ हैं (शामाशास्त्री,1956)। अभिलेख या रेकॉर्ड भी यह संकेतित करते हैं कि अकबर के शासनकाल (1556–1605) के दौरान मदरसों के माध्यम से शिक्षा के लिए समावेशी दृष्टिकोण अपनाया गया था (चौधरी, 2008)। एक अन्य उदाहरण है *पंचतन्त्र*। यह दन्तकथाओं और नैतिकता का एक प्यारा–सा ऐतिहासिक संग्रह है जो यह बताता है कि विविधताओं को कैसे सम्बोधित किया जाए और शिक्षण को अधिगम की जरूरतों के अनुसार कैसे रूपान्तरित किया जाए। पूर्व औपनिवेशिक पुस्तक *पंचतन्त्र* शायद शिक्षण शास्त्र पर पहला ज्ञात पाठ्य है, जिसमें संवाद का सहारा लिया गया और अधिगम के लक्ष्यों को प्राणि–जगत के उदाहरणों से सम्बद्ध किया गया। इस पुस्तक की प्रेरणा थी ऐसे "अशिष्ट" राजकुमारों को पढ़ाना (शास्त्री,1967, पृ.2) जिन्हें "पढ़ाया नहीं जा सकता था" और जो "शिक्षा के दुश्मन" थे (राइडर, 1949 पृ.12)।

तो हमारी औपचारिक प्रणाली ने किसी न किसी रूप में समावेशी दृष्टिकोण को लागू करने का प्रयास किया है और कहीं–कहीं तो लागू भी किया है। इस लेख का उद्देश्य यही है कि नियमित स्कूलों में निःशक्त बच्चों के समावेशन के पहलुओं पर ध्यान केन्द्रित किया जाए। निःशक्तता अधिकार आन्दोलन और 1995 के निःशक्त व्यक्ति अधिनियम के लागू होने के बाद निःशक्त व्यक्तियों के लिए समावेशी शिक्षा पर ध्यान दिया जाने लगा। सर्व शिक्षा अभियान के समावेशी शिक्षा सम्बन्धी प्रावधानों की वजह से ये बातें कक्षा और शिक्षकों के पेशेवर नियमित कार्यों में तथा उनकी अन्तःक्रियाओं में और अधिक औपचारिक रूप से व्यवहार में लाई जाने लगीं। हाल ही के नीति सम्बन्धी घटनाक्रम से, विशेष रूप से शिक्षा का अधिकार अधिनियम के कारण इस बात पर अब और अधिक ध्यान दिया जाने लगा है कि शिक्षा ***सभी*** के लिए हो और अब समावेशी शिक्षा शिक्षकों और शोधकर्ताओं के जाँच का विषय बन गई है। हाल ही के विधायी उपायों के बाद समावेशी शिक्षा के बारे में जागरूकता के साथ निर्णय लिए जाने लगे हैं और इस बात का अवलोकन किया जाने लगा है कि कहाँ–कहाँ समावेशी तरीकों का पालन नहीं किया जा रहा है।

जो लोग निःशक्तता अधिकारों के हिमायती हैं, उनको समावेशी शिक्षा से प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि जिन शैक्षिक और सामाजिक मान्यताओं के कारण अशक्त बच्चों को नहीं अपनाया जाता, समावेशी शिक्षा के माध्यम से उन मान्यताओं को रोकने के प्रयास किए जाते हैं जिसके परिणाम स्वरूप विद्यार्थियों की योग्यता और शक्ति को मान्यता मिलती है, अन्यथा ये क्षमताएँ फीकी पड़ जाती हैं। माता–पिता के लिए समावेशी शिक्षा प्रणाली एक नई आशा लेकर आती है क्योंकि इसमें स्कूल, कक्षा और सहपाठी उनके बच्चों को अपनाने लगते हैं। शिक्षकों को इस बात की चिन्ता होती है कि उनका शिक्षण प्रभावी हो, लक्ष्य प्राप्ति में सहायक हो और कक्षा की वैधानिक अपेक्षाओं को भी पूरा करता हो। हममें से जो लोग स्कूली शिक्षा के सुधार या अशक्त बच्चों की शिक्षा को लेकर चिन्तित हैं, उनके लिए भी समावेशी शिक्षा शैक्षिक असमानताओं को

सम्बोधित करने की दिशा में एक नई आशा दिलाती है। इस प्रकार समावेशी शिक्षा से ऐसे विद्यार्थियों को अपनाने का अवसर मिलता है जिन्हें ऐतिहासिक, सांस्कृतिक या शिक्षण शास्त्रीय रूप से वह शिक्षा नहीं मिल पाई थी जो अधिकांश विद्यार्थियों को मिली थी।

नीति के उद्देश्य को लागू करने के लिए हमें अपने दृष्टिकोण को बदलना होगा; नीति के क्रियान्वयन के लिए हमें समावेशी कक्षा और स्कूली संस्कृति में सृजन, संवर्धन और अभ्यास के लिए उद्देश्यपूर्ण ढंग से योजना बनाने की जरूरत है। तो क्या हमारी कक्षाएँ इसके लिए तैयार हैं? कक्षा की विविधताओं को औपचारिक रूप से सम्बोधित करने के लिए अपनी योजना बनाने और उसे व्यवहार में लाने के लिए शिक्षक को किस तरह की तैयारी करनी चाहिए? इन प्रश्नों के समाधान के लिए मैं अपने शिक्षण के अनुभवों और समावेशी कक्षाओं के लिए शिक्षक शिक्षा सामग्री तैयार करने के अपने हाल के कार्य सम्बन्धी अनुभवों का उपयोग करना चाहूँगी।

असमानताओं को स्वीकारना/अपनाना, विविधताओं का समावेश करना

जैसा कि पहले कहा गया है, समावेशन को व्यवहार में लाना स्वीकरण या अपनाने की गुणवत्ता को दर्शाता है। अपनी कक्षाओं और स्कूलों में समावेशी संस्कृति का निर्माण करने की दिशा में पहला कदम यह है कि हम यह बात स्वीकार कर लें कि विद्यार्थियों में असमानताएँ होती हैं और उनके सीखने के तरीके अलग–अलग होते हैं। एक शिक्षिका के रूप में यह सबक मेरे लिए सबसे अधिक मूल्यवान रहा है और इसका कारण है आरम्भिक शिक्षा के मेरे अपने अनुभव। यह एक ऐसा सबक है जिसे कक्षा की बदलती हुई परिस्थितियों में कई सालों तक पढ़ाने के दौरान मेरे विद्यार्थी मुझे याद दिलाते रहे हैं।

शिक्षण के समावेशी तरीके के लिए नियोजन और भाषा के उपयोग में संवेदनशीलता तथा शिक्षण शैलियों की पहचान जरूरी है ताकि एक ऐसी संस्कृति का निर्माण हो सके जो विभिन्न प्रकार की असमानताओं को स्वीकार करे या अपनाए जैसे लिंग, विश्वास और संजाति, भाषाओं, सीखने की शैलियों और क्षमताओं सम्बन्धी असमानताएँ। यह एक ऐसा विचार है जो शायद समावेशी कक्षा की योजना बनाने वाले शिक्षक को थोड़ा–सा डरा दे। पर एक शिक्षिका और शिक्षक प्रशिक्षिका के रूप में मैंने यह सीखा है कि विद्यार्थियों की विविधताओं को ध्यान में रखते हुए पाठ की योजना बनाना बहुत लाभप्रद होता है। समय के साथ–साथ ऐसा भी हुआ कि अपनी कक्षा के लिए विविध जरूरतों पर ध्यान केन्द्रित करने और हर एक पर अलग–अलग ध्यान देने की बजाय मैं सहज रूप से विविधताओं का ध्यान रखते हुए योजना बनाने लगी। मेडिकल, शारीरिक, संवेदी और संज्ञानात्मक जरूरतों वाले बच्चों को पढ़ाना मेरे साथियों के लिए एक रचनात्मक प्रक्रिया बन गई,[1] मेरी कक्षा योजना और व्यवस्था में विद्यार्थियों की विशेषताओं, उनके व्यक्तित्व, उनकी शक्ति, प्राथमिकताओं और जरूरतों को शामिल करना एक सुखद बात थी। यह समझना जरूरी है कि हमारी कार्यप्रणाली में, सभी के लिए, समावेशी शिक्षा की अवधारणा सहायक है, उलझन नहीं। उन अलग–अलग दृष्टिकोणों को समझना भी जरूरी है जिनका प्रयोग समावेशन के प्रयासों को और भी सफल बनाने के लिए प्रभावी ढंग से किया जा सकता है।

कार्यनीतियों के रूप में शक्ति और असमानताओं का उपयोग

''हमने कभी यह सोचा ही नहीं था कि हम सारे ('सारे पर जोर दिया गया) बच्चों को एक साथ इस तरह से भी पढ़ा सकते हैं।''

(पब्लिक स्कूल के शिक्षक, एन.सी.ई.आर.टी. कार्यशाला, जनवरी 2014)

संवेदी, शारीरिक, संज्ञानात्मक और/या एकाधिक अशक्तताओं वाले विद्यार्थियों की नियमित कक्षा में शिक्षण पर केन्द्रित एक कार्यशाला के बाद हमें यह प्रतिक्रिया मिली। हमारे सभी प्रतिभागी नियमित प्रारम्भिक पब्लिक स्कूल के शिक्षक थे। वैसे तो इस चालू कार्यशाला का केन्द्रबिन्दु अशक्त विद्यार्थियों को नियमित कक्षाओं में समावेशित करना है, लेकिन अपने पब्लिक स्कूलों के लिए शिक्षक शिक्षा की सामग्री तैयार करते समय मेरा उद्देश्य यह रहता है कि शिक्षक यह बात समझ पाएँ कि भले ही कक्षा में समानताएँ और असमानताएँ हों या न हों, तो भी सभी विद्यार्थियों की मदद करने लिए कोई एक तरीका

[1]हर बच्चे की जरूरत के अनुसार, एक शारीरिक, व्यावसायिक और वाक चिकित्सक (थेरपिस्ट) और/या दिकविन्यास प्रशिक्षक से परामर्श करना चाहिए ताकि विद्यार्थी के लिए उनकी चिकित्सा के लक्ष्य ही शामिल किए जा सकें। मैंने कुछ ऐसे कार्यक्रमों के लिए भी काम किया है जिनमें कला, संगीत और नृत्य के चिकित्सक (थेरपिस्ट)भी मुहैया कराए गए। पाठ योजना में उनके लक्ष्यों को शामिल करने से कक्षा के लक्ष्यों को समृद्ध किया जा सकेगा और उन्हें पाने में आसानी हो सकती है।

नहीं होता। हमारे सम्बन्धित काम भी यही बताते हैं कि शिक्षक भी इस विचार को व्यावहारिक मानते हैं और उन्होंने सुझाव दिया है कि कार्यशालाओं में इस विषय पर विस्तारित सत्र रखे जाएँ—इस बात से हमारे प्रयास और भी पुष्ट होते हैं।

"भाषा के बिना लोगों से बात नहीं की जा सकती और उन्हें समझा नहीं जा सकता; उनकी आशाओं और आकांक्षाओं को साझा नहीं किया सकता, उनके इतिहास को नहीं समझा जा सकता..."(मंडेला, 1995, पृ. 84)।

कक्षा में शिक्षक के काम को डिजाइन और परिभाषित करने के लिए विद्यार्थियों के बारे में, वे सम्भव अनुभव जो उन्हें हुए हों या न हुए हों और उनकी पृष्ठभूमि आदि बातों की समझ रखना महत्त्वपूर्ण है। मैं ऊपर दिए गए आंशिक उद्धरण[2] में दिए गए शब्द *भाषा* के अर्थ का विस्तार करके इस बात के महत्त्व को सामने लाना चाहती हूँ कि विद्यार्थियों की प्रस्तुति, उनके अनुभवों की अभिव्यक्ति, उनकी समझ और संसार सम्बन्धी उनके वर्तमान विचार आदि को पहचानना महत्त्वपूर्ण है। उनकी अभिव्यक्ति की भाषा को पहचानने से हमारे भीतर के शिक्षक को ऐसे बच्चों को समझने और उनकी सहायता करने में मदद मिलेगी जो मुख्यधारा के बाहर हैं ताकि वे भी मुख्यधारा के भीतर आ सकें।

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद का विशेष आवश्यकता समूह शिक्षा विभाग (Department of Education of Groups with Special Needs (DEGSN)) पब्लिक स्कूल के शिक्षकों के लिए शिक्षक सुगमीकरण सामग्री का विकास कर रहा है जिससे वे समावेशी शिक्षा के लिए अपेक्षित परिवर्तन आसानी से कर सकें।[3]

इनमें वे सुझाव, संकेत, विचार और कार्यनीतियाँ शामिल हैं, जिन्हें हमारे शोध और DEGSN द्वारा नियमित और विशेष शिक्षा के शिक्षकों के लिए आयोजित कई कार्यशालाओं[4] से प्राप्त जानकारी के माध्यम से विकसित किया गया है। शिक्षक शिक्षा सामग्री से सम्बन्धित चालू कार्यशालाओं में शिक्षकों से व्यावहारिक रूप से गतिविधियाँ करवाई जाती हैं ताकि वे एन.सी.ई.आर.टी. की पाठ्यपुस्तकों के पाठों के अनुकूलन, रूपान्तरण और नियोजन के द्वारा समावेशी दृष्टिकोण वाले अपने खुद के तरीके विकसित कर सकें। चित्र 1 में कुछ सुझाव दिए गए हैं जो मेरे शिक्षण के अनुभवों पर आधारित हैं और जिन्हें समावेशी संस्कृति का निर्माण करने में शिक्षकों की मदद करने के लिए हमने साझा किया है।

अमरीकी विज्ञान शिक्षक Bill Nye (1955) के साथ हुए एक ऑनलाइन साक्षात्कार का ये हिस्सा बहुत लोकप्रिय उद्धरण बन गया है "आप जब भी किसी से मिलते हैं तो वह कुछ ऐसा जानता होता है जो आप नहीं जानते (2012)।" यह उद्धरण इस बात को उजागर करता है कि समावेशन के लिए आप जो भी प्रयास करते हैं उसमें विद्यार्थियों को शामिल करना कितना महत्त्वपूर्ण है। इसमें सन्देह नहीं कि शिक्षण से सन्तुष्टि मिलती है लेकिन यह थकाऊ भी है और खास तौर पर समावेशी कक्षा के लिए काम करना काफी चुनौतीपूर्ण कार्य है। जैसा कि पहले भी कहा गया है कि जब विशेष सेवाओं की जरूरत होती है तब चुनौतियों का ध्यान रखते हुए कार्य करने, नवाचारों को शामिल करने और संसाधनों का उपयोग करने से समावेशी शिक्षण के अनुभव प्रभावी और सुखद हो सकते हैं। इस प्रक्रिया में, समावेशी अनुभवों के माध्यम से सीखने वाले विद्यार्थी आपसी समानताओं और असमानताओं के बारे में सीखेंगे। एक और महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह होगी कि उन्हें इस बात का ज्ञान हो जाएगा कि वे अलग हैं और इसलिए विशेष हैं क्योंकि वे अपने ही अनूठे तरीके से इस सहयोगात्मक प्रक्रिया में योगदान दे रहे हैं।

---

[2] *पूरा उद्धरण इस प्रकार है: "भाषा के बिना लोगों से बात नहीं की जा सकती और उन्हें समझा नहीं जा सकता; उनकी आशाओं और आकांक्षाओं को साझा नहीं किया सकता, उनके इतिहास को नहीं समझा जा सकता, उनकी कविता की सराहना नहीं की जा सकती और न ही उनके गीतों का आस्वादन किया जा सकता है।"*

[3] *प्रेस में, व्यास और जुलका*

[4] *शिक्षक शिक्षा पुस्तिका/हैण्डबुक के लिए आरम्भिक जानकारी पाने के लिए अर्ध–औपचारिक साक्षात्कारों के साथ–साथ ये तीन कार्यशालाएँ भी आयोजित की गईं– (i) जुलाई 2013 में एन.सी.ई.आर.टी. परिसर, नई दिल्ली में आवश्यकता के आकलन पर कार्यशाला का आयोजन किया गया जिसमें पब्लिक स्कूलों के नियमित शिक्षकों और संसाधक शिक्षकों ने भाग लिया। (ii) सितम्बर 2013 में बेंगलूरु में दूसरी कार्यशाला आयोजित की गई जिसमें विभिन्न अशक्तता वाले क्षेत्रों में कार्यरत शिक्षकों, प्रशिक्षकों और अधिकारियों तथा विशेष व समावेशी सेटिंग में कार्यरत विशेष शिक्षा के शिक्षकों को भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया गया। (iii) तीसरी कार्यशाला अक्टूबर 2013 में एन.सी.ई.आर.टी. परिसर, नई दिल्ली में आयोजित की गई जिसमें पब्लिक और निजी स्कूलों के विशेष शिक्षकों, पब्लिक स्कूलों के नियमित शिक्षकों और प्रारम्भिक शिक्षा विभाग (Department of Elementary Education (DEE), एन.सी.ई.आर.टी के प्रतिनिधियों ने भाग लिया।*

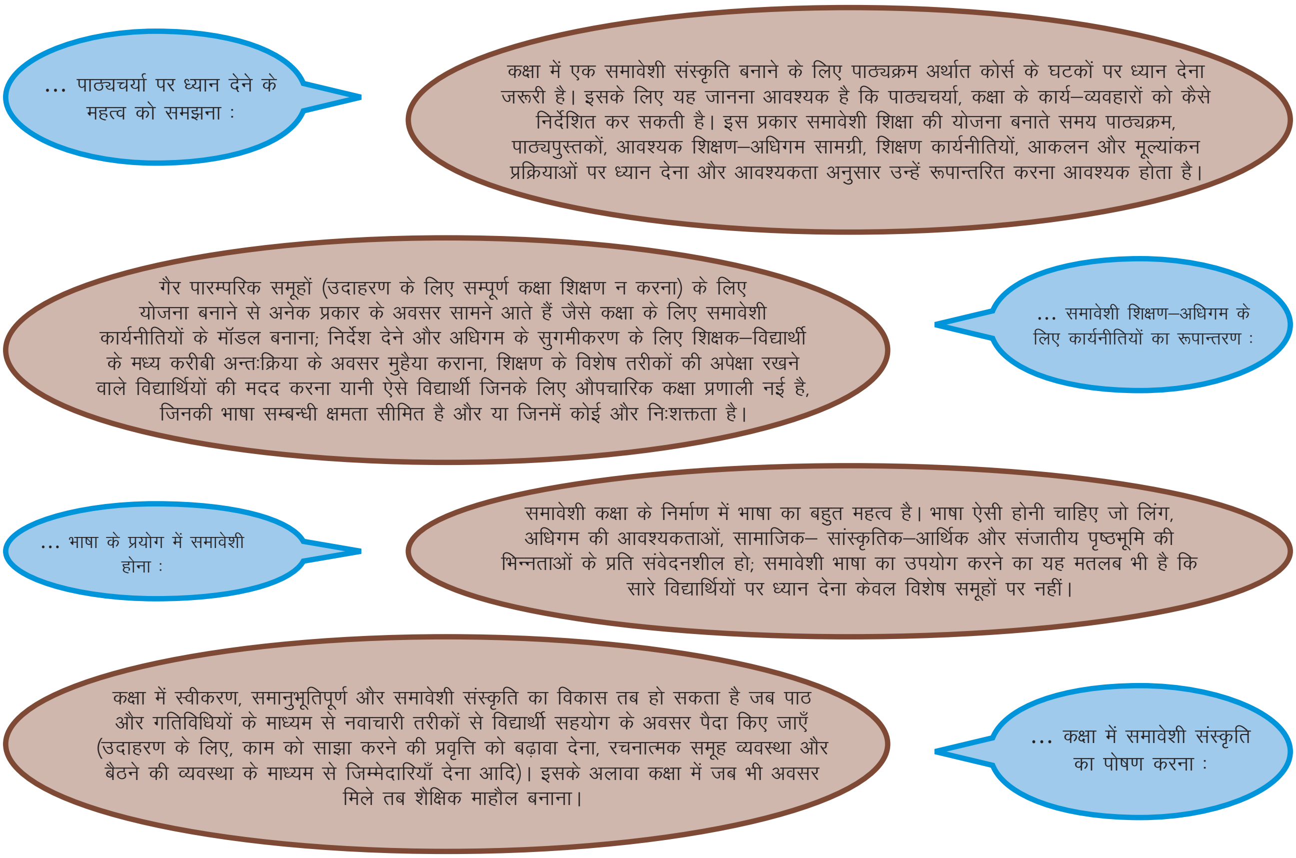

चित्र 1 : शिक्षण–अधिगम के लिए समावेशी दृष्टिकोण को विकसित करने के सुझाव

References:

- Choudhary, S. K. (2009). Higher education in India: a socio-historical journey from ancient period to 2006-07. The Journal of Educational Enquiry, 8(1), 50-72.
- Kautilya. (1967). Kautilya's Arthasastra (R. S. Sastry, Trans. 8th ed.). Mysore, India: Mysore Printing and Publishing House.
- Mandela, N. (1995). Long walk to freedom : the autobiography of Nelson Mandela. Boston: Back Bay Books.
- Ryder, A. W. (1949). Panchantra (A. W. Ryder, Trans. 8th ed.). Bombay: Jaico Books. Vishnusharma, P. (1967). Panchatantra: Pandit Vishnusharma Virachit Panchatantra: Neetishastranee bodhprad Kathaao (P. P. H. Shastri, Trans. 4th ed.). Bombay: Gujarat Printing Press.
- Vyas, S., Julka, A. (in press). Guidelines for Teachers Creating Inclusive Classrooms: Tips, Strategies, and Suggestions for Inclusion of All when you have a Student with Special Needs in your Classroom. NCERT Publications
- Nye, B. (2012, July 27). IAm Bill Nye the Science Guy, AMA: IAmA Redditt. Retrieved from http://www.reddit.com/r/IAmA/comments/x9pq0/iam_bill_nye_the_science_guy_ama

सिद्धि व्यास, Ed.D., पिछले बीस वर्षों से शैक्षिक विकास के कार्य में लगी हुई हैं; वे भारत और अमेरिका में निजी और पब्लिक स्कूलों में शिक्षिका के रूप में कार्य कर चुकी हैं; उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय राहत समिति, न्यूयॉर्क के साथ भी कार्य किया; उन्होंने The University of TX, Austin और University of Michigan, Ann Arbor में शिक्षक प्रशिक्षिका के रूप में भी काम किया जहाँ उन्होंने Educational Studies and Curriculum] Instructional Development में graduate scholarship के लिए कार्य किया। कोलम्बिया विश्वविद्यालय के शिक्षक कॉलेज में शिक्षा और विकास अध्ययन में अपने डॉक्टरेट शोध के माध्यम से उन्होंने राष्ट्रीय शिक्षा नीति के निर्माण और कार्यान्वयन में राज्य और नागरिक समाज के सहयोग का पता लगाया। उन्होंने भारत के ग्राम और शहरों के निजी व पब्लिक स्कूलों में नीति के तुलनात्मक अध्ययन का कार्य किया। अज़ीम प्रेमजी फाउण्डेशन के विश्वविद्यालय की स्थापना से लेकर **2013** तक उन्होंने वहाँ शिक्षण–कार्य किया। एन.सी.ई.आर.टी. के विशेष आवश्यकता समूह शिक्षा विभाग में शिक्षक शिक्षा सामग्री के विकास और Tata Institute of Social Sciences (TISS) के TISS School of Social Work's Center for Disability and Action में अध्ययन के स्नातकोत्तर कोर्स के विकास में परामर्श प्रदान किया। सम्प्रति वे अपने डॉक्टरेट के शोध पर आधारित पुस्तक लिखने में व्यस्त हैं। उनसे srv12@columbia.edu और siddhivyas@gmail.comij सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : नलिनी रावल

बाल साहित्य में समावेशन की सम्भावनाओं की खोज

उषा मुकुन्दा

"बचपन में एक क्षण ऐसा होता है जब एक द्वार खुलता है और भविष्य भीतर प्रवेश करता है।" - ग्राहम ग्रीन

बाल साहित्य में समावेशन : क्या यह एक आसान बात है?

पढ़ने के लाभ और उपयोगों के बारे में जितनी भी बात की जाए कम है। इसलिए यह जरूरी है कि हर प्रकार की रुचि और क्षमता रखने वाले **सारे** बच्चों को पढ़ने की सामग्री उपलब्ध हो। लेकिन सिर्फ उपलब्धता काफी नहीं है। अच्छी विषय–सामग्री वाली पुस्तकें उपलब्ध होनी चाहिए और उनकी उपलब्धि सुनिश्चित कराने वाले सुगमकर्ता होने चाहिए जो बच्चों को ऐसे अवसर मुहैया कराएँ जहाँ वे पुस्तकों के बारे में अपने विचार और अवलोकनों की चर्चा कर सकें।

समावेशन बराबरी का होना चाहिए। समावेशन का मतलब कमतर का बड़े के साथ समावेशन नहीं बल्कि इसका मतलब है समान रूप से बराबर होना। इसलिए यह बहुत जरूरी है कि सारे बच्चे पढ़ें और एक–दूसरे के जीवन, स्थितियों और विशेषताओं के बारे में जानें।

जब बच्चा कोई पुस्तक पढ़ता है तो वह कई तरह से उससे जुड़ता है। उसे पुस्तक की विषयवस्तु अच्छी लगती है, उसका कथानक अच्छा लगता है, वह किसी पात्र के साथ गहरा तादात्म्य स्थापित कर लेता है, पुस्तक के चित्र उसके दिल को छू लेते हैं और पुस्तक की भाषा उसके ही विचारों को प्रतिबिम्बित करती सी प्रतीत होती है। बहुत सम्भव है कि जब तक बच्चा पूरी पुस्तक पढ़े तब तक उसके मन में अवचेतन रूप से चिन्तन की प्रक्रिया भी शुरू हो जाए।

मैंने शहरी और ग्रामीण दोनों पृष्ठभूमियों वाले बच्चों के साथ काम किया है और मेरा अनुभव यह है कि कि कुछ सामान्य प्रीतिपात्र होते हैं जो समान रूप से अच्छे लगते हैं। "बसवा और जादुई बिन्दु" एक ग्रामीण लड़के की कहानी है जो जंगल के बाहर अपनी माँ के साथ रहता है। उनका जीवन सरल और सादा है। इस पुस्तक को जब शहरी समाज में रहने वाला लड़का पढ़ता है तो वह तुरन्त बसवा के साथ एक गहरा रिश्ता महसूस करने लगता है। उसे यह कहानी और किरदार दोनों ही अच्छे लगते हैं। इस प्रकार यहाँ कोई सीमा या बन्धन नहीं है।

ग्रामीण पृष्ठभूमि वाला एक अन्य बच्चा "सुरांगिनी" शीर्षक कहानी को बार–बार पढ़ता है और मुझे बताता है कि उसे कहानी के सुन्दर चित्र और डिजाइन बहुत पसन्द हैं अर्थात उसे भी ये चीजें उतनी ही पसन्द आती हैं जितनी किसी बिल्कुल अलग परिवेश वाले के बच्चे को आतीं। "चुस्किट स्कूल जाती है"–एक ऐसी बच्ची की कहानी है जो लद्दाख में रहती है, वह चल–फिर नहीं सकती और इसलिए व्हील चेयर का प्रयोग करती है। वह हँसमुख है और उसके कई दोस्त भी हैं। उसे सिर्फ इस बात का अफसोस है कि वह उनके साथ स्कूल नहीं जा पाती। वह इलाका उसकी व्हील चेयर के अनुकूल नहीं है। यह कहानी असाधारण इसलिए हो जाती है क्योंकि इस समस्या को बच्चे ही हल करते हैं। पाठक उस स्थान की प्राकृतिक सुन्दरता से अभिभूत होता है और चुस्किट की असमर्थता उसे भाव–विह्वल नहीं करती। मैंने यह कहानी असमर्थ बच्चों के स्कूल में भी सुनाई जहाँ मैं महीने में एक बार जाती हूँ। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि इस कहानी के लिए भी उनकी प्रतिक्रिया वैसी ही थी जैसी किसी अन्य अच्छी कहानी के लिए होती थी। उन्हें यह पुस्तक बहुत अच्छी लगी लेकिन चुस्किट के साथ उनका कोई खास तादात्म्य देखने में नहीं आया।

श्रद्धांजलि स्कूल में एक बच्चा दूसरे को पढ़ने में सहायता कर रहा है।

कोसानी के पुस्तकालय में बच्चे अपनी पसन्द की पुस्तकों के साथ

तो क्या हम ऐसा कह सकते हैं कि पाठकों के परिचित वातावरण और लोगों की तुलना में कहानियाँ, सशक्त तरीके से तराशे गए किरदार और कल्पनात्मक चित्र अधिक महत्त्वपूर्ण हैं? ऐसे कई उदाहरण हैं कि जब कोई पुस्तक अच्छी तरह से लिखी जाती है तो वह सारे बन्धन व अवरोध तोड़ देती है और विविध पृष्ठभूमि के बच्चे उस पुस्तक की सराहना करने के साथ–साथ उसका आनन्द भी ले पाते हैं। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि बाल साहित्य के लेखकों और चित्रकारों को इस बारे में अधिक संवेदनशील और जागरूक होना चाहिए कि पुस्तकें ऐसी हों कि जिनके साथ हर तरह के पाठक जुड़ सकें। लेकिन इस लक्ष्य को लेकर चलने वाली पुस्तक तो शुरू में ही मुसीबत में पड़ जाती है! लेखक और कलाकारों को रचनात्मक स्वतंत्रता होनी चाहिए कि वे खुद को सच लगने वाली बातें पेश कर सकें। कथ्य सच्चा और प्रामाणिक हो तो हर पाठक उसके साथ जुड़ेगा।

क्या भारत के बाल साहित्य में समावेशी विषयों की पुस्तकें हैं?

अन्वेषी रिसर्च सेण्टर फॉर विमेन्स स्टडीज, हैदराबाद द्वारा पेश की गई शृंखला में हमें ऐसी एक सम्भावना नजर आती है। ये विषयवस्तुएँ/थीम उन हालातों को उजागर करती हैं जिनसे हम अधिक परिचित नहीं हैं। ये सशक्त कहानियाँ जरा–सा विचलित करती हैं, मार्मिक हैं और अनेक सवाल उठाती हैं।

अगर ये कहानियाँ भावुकता की दृष्टि से इतनी गहन न होतीं तो अच्छा होता क्योंकि बच्चे इनके साथ एकदम–से जुड़ नहीं पाते हैं। बच्चों की पुस्तकों की एक महत्त्वपूर्ण कसौटी यह है कि कहानी ''बहुत अच्छी" होनी चाहिए। लेकिन उपर्युक्त "अलग–सी या हट के" कहानियाँ समझने के लिए किसी वयस्क की जरूरत पड़ सकती है लेकिन फिर भी वे रास्ता तो दिखाती ही हैं।

बाल साहित्य में समकारी तत्व कौन–से हैं?

1.भाषा की बहुलता आवश्यक है।

भारत के राज्यों में कई भाषाओं की खनक सुनाई देती है। ऐसे में एकलव्य का यह प्रयास सराहनीय है कि उन्होंने न केवल मुख्यधारा की भाषाओं जैसे हिन्दी, बंगाली, मराठी, गुजराती, उर्दू और छत्तीसगढ़ी में बल्कि मालवी (मध्य प्रदेश के मालवा क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषा), बुंदेलखण्डी (मध्य प्रदेश के बुंदेलखण्ड क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषा), गोण्डी, कोर्कू (मध्य प्रदेश की घनी आबादी वाले लोगों की आदिवासी भाषाएँ) और हाल ही में कुंक्ना (दक्षिण गुजरात में बोली जाने वाली आदिवासी भाषाएँ) में भी पुस्तकों के प्रकाशन का साहसिक कदम उठाया है। प्रथम और तूलिका जैसे प्रकाशक भी कई भाषाओं में पुस्तकें छापते हैं। उनकी द्विभाषिक पुस्तकें समावेशन की भावना को प्रोत्साहित करती हैं। ज्योत्स्ना प्रकाशन मराठी पाठकों के लिए अच्छा और प्रभावपूर्ण कार्य कर रहा है। कई राज्यों में क्षेत्रीय प्रकाशक हैं तो सही, लेकिन उनकी गुणवत्ता एक समान नहीं है। राज्य सरकारों को चाहिए कि वे इस स्थिति पर ध्यान दें और प्रकाशकों को समर्थन प्रदान करें।

2. वातावरण, किरदार और चित्रकला की बहुलता

देश भर के लेखकों और चित्रकारों के कारण यह कार्य क्रमशः आगे बढ़ रहा है। ये लोग अपने बचपन की यादें ताजा करने वाली परिस्थिति, किरदार और कला रूपों को दर्शा रहे हैं और इसलिए पुस्तकें सच्ची लगती हैं। एन.बी.टी. द्वारा प्रकाशित महाश्वेता देवी की 'द व्हाइ–व्हाइ गर्ल", इस बात का अनूठा उदाहरण है।

एक तिब्बती लड़की 'द व्हाइ व्हाइ गर्ल' पढ़ती हुई, पूंठा साहिब हिमाचल प्रदेश में

3. विभिन्न समुदायों और उनकी संस्कृतियों को समकालीन बनाइए। उन्हें संग्रहालय की वस्तु मत मानिए।

कई बार समावेशी साहित्य " अमुक लोककथाओं" या " अमुक प्राचीन किंवदन्तियों" का पर्याय लगता है। इनमें उस वक्त और युग का गुणगान किया जाता है। यदि कहानियों को समकालीन परिस्थितियों में रखा जाए तो वे समावेशन के लिए अधिक सार्थक हो सकती हैं। "एस्किमो बॉय" शीर्षक वाली एक पुस्तक बहुत बढ़िया है, जिसमें दर्शाया गया परिवार, कुछ विशेष बातों को छोड़कर, किसी अन्य सामान्य परिवार जैसा ही है और हाँ, इसमें इग्लू में रहने या मछली पकड़ने के लिए बर्फ में छेद करने की बात नहीं है!

4. घिसी–पिटी बातों के बिना भी गर्व की भावना पैदा की जा सकती है

बच्चे अपनी संस्कृति या लिंग से सम्बन्धित कहानियों के साथ तब जुड़ सकते हैं जब गर्व की भावना पैदा की जाए। "हू विल बी निंग्तो" शीर्षक कहानी में मणिपुर के राजा की सबसे छोटी लड़की को सर्वाधिक योग्य उत्तराधिकारी के रूप में चुना जाता है। "मालू और भालू" में हम एक माँ और बेटी की बहादुरी और साहस की प्रशंसा करते हैं। "काली और पनियाँ साँप" में लड़के के साँप पकड़ने के कौशल से कोई इनकार नहीं कर सकता, हालाँकि इसमें जरा रूढ़िवादिता है। इन पुस्तकों को तूलिका प्रकाशन ने प्रकाशित किया।

ए एण्ड ए प्रकाशन ने बालिकाओं के लिए समर्पित शृंखला छापकर एक अच्छा कदम उठाया है। एन.बी.टी. का "एटोआ मुण्डा वन द बैटल" एक ऐसे आदिवासी लड़के की प्रेरणादायक कहानी है जो शिक्षा प्राप्त करने के लिए अनेक बाधाओं से लड़ता है।

5. कथ्य को हल्का–फुल्का या सरल रखना

बच्चे ऐसी कहानी पसन्द करते हैं जो मजेदार हो। इसलिए अगर विषय प्रासंगिक भी हों तो उसकी प्रस्तुति सरल होनी चाहिए। यही कारण है कि तूलिका प्रकाशन की "जू'स स्टोरी" और "अण्डर द नीम ट्री" इतनी सफल हैं। ये कहानियाँ गम्भीर मुद्दे उठाती हैं लेकिन कहानियों में जो बच्चे हैं, वे उन्हें बहुत सरल रूप में लेते हैं। एकलव्य की "आई एम अ कैट" भी इसका उत्कृष्ट उदाहरण है जिसमें एक लड़की घर के कामों से बचने के लिए माँ को बहकाने की कई कोशिशें करती है। वर्णन और पानी के रंग वाले उत्तम चित्रों के माध्यम से पाठक उनकी आर्थिक स्थिति का अनुमान लगा सकते हैं, उनके घर की टीन की छत, कम सामान और फटे व पैबन्द लगे कपड़े देख सकते हैं। लेकिन लेखक या किरदार कहीं भी आपसे सहानुभूति की माँग नहीं करते। पूरी कहानी बड़ी मजेदार है और हर बच्चा इसके साथ जुड़ सकता है और जुड़ता भी है।

उत्तराखण्ड के ग्रामीण स्कूल शीतला में बच्चों की बनाई किताब का विमोचन

6. विभिन्न विषय या थीमें

अब तक लेखक और प्रकाशकों ने अपेक्षाकृत ''सुरक्षित विषयों" पर ही लिखा है। इसमें कोई शक नहीं कि तारा

कौसनी, उत्तराखण्ड में एक नन्हा पाठक

प्रकाशन की "पोन्नी द फ्लॉवर सेलर" और "बाबू द होटल वेटर" एक अच्छी शुरुआत हैं, लेकिन "अ डे इन द लाइफ ऑफ लक्ष्मी द हिजड़ा या किसी असमर्थ बच्चे" से सम्बन्धित विषय के बारे में क्या कहा जाए? अन्वेषी ने "द सैक क्लॉथमैन" में एक कठिन विषय लिया है, जिसमें किसी पारिवारिक त्रासदी के सदमे से गुजर रही एक लड़की मानसिक रूप से विचलित वयस्क से मिलती है। इसमें यह सवाल उठाया गया है कि अगर ऐसी ही स्थिति हमारे सामने आती तो हम क्या करते। "अनटोल्ड स्कूल स्टोरीज" में एक निम्न जाति की लड़की को उसके शिक्षक और सहपाठियों द्वारा सताए जाने और दण्डित करने की बात है।

7. कुछ बातें अनकही छोड़ दें, ताकि नन्हें पाठक उस बारे में सोचें, दूसरों के साथ संवाद करें और अपनी समझ बनाएँ

इस बात का अच्छा उदाहरण है "भीमायन" जो एक ग्राफिक उपन्यास है। बी. आर. अम्बेडकर की सच्ची कहानी को कल्पनाशील चित्रों के साथ लिखा गया है। दूसरा उदाहरण है "मुकुन्द एण्ड रियाज" जो विभाजन के समय में दो मित्रों की कहानी है। इसमें मुद्दे जटिल हैं लेकिन सब कुछ स्पष्ट रूप से बताने की जरूरत नहीं। बच्चे को यह महसूस करना चाहिए कि अभी कुछ और सामने आने वाला है। ऐसा ही एक अन्य उदाहरण है "द अनबॉय बॉय"।

8. ऐसी कहानी और कथानक जो "अलगपन" को मुख्य कथानक में गूँथता चले

टैगोर की "काबुलीवाला" एक ऐसी ही कहानी है। एक "अजनबी" के आने से पिता और बेटी के मजबूत व गहरे सम्बन्ध में अशान्ति उत्पन्न हो जाती है।

9. उपलब्धता और खरीदने में आसानी

एन.बी.टी. और प्रथम पुस्तकों ने इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। उनकी पुस्तकों का मूल्य कम है और वे दूर–दराज के स्थानों में जाकर पुस्तक मेले आयोजित करते हैं।

10. वास्तविकता सामने रखना (तथ्य को एक भारी भावनात्मक बोझ बनाए बिना ज्यों का त्यों प्रस्तुत करना)

रूपा प्रकाशन द्वारा रस्किन बॉण्ड की "एंग्री रिवर" एक सरल और हृदय स्पर्शी कहानी है जिसमें यह बताया गया है कि एक उफनती हुई नदी एक बच्ची और उसके दादा–दादी को कैसे प्रभावित करती है।

11. कथेतर साहित्य

तारा प्रकाशन की "ट्रैश–ऑन रैग पिकर चिल्ड्रन एण्ड रीसाइक्लिंग" और तूलिका प्रकाशन की "सुरेश एण्ड द सी" ऐसे बच्चों की बात करती हैं जो एक निश्चित जीवन शैली से जुड़े हुए हैं। "व्हाइ आर यू अफ्रेड टु होल्ड माइ हैण्ड?" में एक असमर्थ बच्चा अपने 'समर्थ' साथियों से यह सवाल पूछता है। एकलव्य की "बेटी करे सवाल" में वे प्रश्न उठाए गए हैं जो लड़कियों के मन में अपने शरीर और शारीरिक परिवर्तनों के सम्बन्ध में पैदा होते हैं। "सम स्ट्रीट गेम्स ऑफ इण्डिया" एन.बी.टी. की एक मनोहर पुस्तक है जिसमें इस सम्भावना पर चर्चा की गई है कि हर प्रकार की पृष्ठभूमि वाले बच्चे इन सरल खेलों का आनन्द उठा सकते हैं।

12.बच्चों द्वारा मौखिक कहानियाँ लिखना और नई कहानियाँ रचना

हाल ही में दूर–दराज के स्थानों में सामुदायिक पुस्तकालयों में कार्यरत पुस्तकालय–शिक्षकों के लिए पुस्तकालय से सम्बन्धित कार्यों पर एक कोर्स का आयोजन हुआ, जिसमें एक प्रतिभागी ने बताया कि उनकी पहली प्राथमिकता थी उन बच्चों की भाषा सीखना जिनके

वरदनाहल्ली, कर्नाटक के ग्रामीण पुस्तकालय में नन्हें पाठक

साथ वे काम काम करती थीं। उन्होंने आशा व्यक्त की कि इसके बाद वे कहानियों का स्थानीय भाषा पारधी में अनुवाद करके अन्त में बच्चों से स्वयं अपनी कहानियाँ रचने को कहेंगी। महाराष्ट्र से आए एक अन्य समूह ने भी इस विचार के बारे में खोजबीन की। बच्चों की समावेशी पुस्तकों के लिए यह एक नया विचार है!

उल्लिखित प्रकाशकों के अलावा सेण्टर फॉर लर्निंग रिसोर्सस, पुणे और खेल किताब, दिल्ली, के प्रकाशनों में कुछ समावेशी विषय हैं। पराग पहल भी बाल साहित्य के प्रकाशकों को आर्थिक सहायता दे रही है लेकिन अभी भी इस प्रकार की सहायता की संख्या बहुत कम है और अभी यह बहुत दूर की बात है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि समावेशी साहित्य बन्धनों को तोड़ने का एक तरीका हो सकता है। पर यह पता लगाना आवश्यक है कि बच्चे "खुद" से सम्बन्धित कहानियों से अधिक जुड़ते हैं या अच्छी तरह से सुनाई गई कहानियों से। अन्यथा हम एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति में आ जाएँगे जहाँ पुस्तकें समावेशी होने की कोशिश तो करती हैं लेकिन बच्चों की गहरी संवेदनशीलता को छूने में असफल रहती हैं।

"जहाँ अज्ञान हमारा स्वामी होता है, वहाँ वास्तविक शान्ति की कोई सम्भावना नहीं होती।" . माननीय दलाई लामा

***आभार** : मैं अपने मित्रों और सहयोगियों अरविन्द अनन्तरामन, आशा नेहेमैया, गायत्री तीर्थपुरा और यामिनी विजयन को धन्यवाद देना चाहती हूँ, जिन्होंने ईमेल के द्वारा इस विषय पर बातचीत करने के मेरे अनुरोध को स्वीकार किया। उनके इनपुटों के कारण यह लेख सही मायनों में समावेशी बना है!*

उषा मुकुन्दा के लिए पिछले 30 वर्षों से बच्चों और पुस्तकों के साथ अन्तःक्रिया करने की यात्रा बहुत सुखद और ज्ञान प्राप्ति की यात्रा रही है। इस यात्रा के दौरान उन्होंने बाल साहित्य में गहरी रुचि विकसित की। उन्हें अपने अनुभवों को बच्चों तथा वयस्कों के साथ साझा करना अच्छा लगता है। पिछले कुछ वर्षों से वे ग्रामीण पुस्तकालयों के साथ जुड़ी हुई हैं। उनसे usha.mukunda@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है। **अनुवाद** : नलिनी रावल

मुझे भी शामिल कीजिए!

विजया महादेवन

अकादमिक सत्र समाप्त होने को है और बच्चे अपनी बोर्ड की परीक्षा की तैयारियों में जुटे हुए हैं। परीक्षा के कारण वे थोड़े तनावग्रस्त भी हैं। मैं इस बात की बेतहाशा कोशिश कर रही हूँ कि कक्षा को जीवन्त और खुशगवार बनाया जाए। आमतौर पर मेरी कक्षा में प्रमस्तिष्क घात (cerebral palsy) से पीड़ित दो छात्र, एक दृष्टिहीन छात्र, बहु असमर्थताओं और अवाचिकता (non-verbal) से पीड़ित एक छात्र; बौद्धिक रूप से असमर्थ दो छात्र, *अधिगम की असमर्थता* वाले दो विद्यार्थी और सामान्य बुद्धि वाले तीन विद्यार्थी होते हैं, जो आर्थिक और पारिवारिक समस्याओं के कारण स्कूल छोड़ चुके होते हैं। मैं चाहती हूँ कि मैं अँग्रेजी में वार्तालाप और प्रभावी सम्प्रेषण सिखाने वाली अपनी कक्षा को एक बढ़िया तरीके के साथ समाप्त करूँ। इसके लिए मैं उन्हें उनके बिजनेस स्टडीज की पाठ्यचर्या पर एक प्रोजेक्ट करके उसे कक्षा के सामने प्रस्तुत करने को कहती हूँ। मैं उनके समूह बनाती हूँ और तभी जे पूछता है,"मैडम, एम कैसे भाग लेगा? वह तो बोल नहीं सकता।" इससे पहले कि मैं इसका जवाब सोचती, व्हील चेयर पर बैठे हुए टी ने अपने अवाचिक मित्र के बचाव में तपाक से जवाब दिया,"तो क्या हुआ? जानकारियों और चित्रों को डाउनलोड करके पॉवर पॉइंट प्रस्तुति बनाने में एम बहुत अच्छा है। उन स्लाइडों की व्याख्या हम कर देंगे।" और यूँ एक मिनट में समस्या हल हो गई! एम के चेहरे पर चमक और चिरपरिचित मुस्कान आ जाती है मानो कह रहा हो," मुझे शामिल करने के लिए ''धन्यवाद"।

मेरे सहयोगी और मैं आश्चर्यचकित हो जाते हैं, क्या यही असली समावेशन है? क्या यह इतना आसान है?

समावेशन एक भव्य और मायावी अवधारणा प्रतीत होती है। समावेशन की कोई स्वीकृत परिभाषा लोकप्रिय नहीं हुई है जिससे जाहिर होता है कि इसकी प्रकृति जटिल और विवादपूर्ण है। *समावेशी शिक्षा* इन दोनों बातों पर ध्यान देती है– पहला विद्यार्थियों का अधिकार और दूसरा शिक्षार्थियों के विभिन्न समूहों की जरूरतों को पूरा करने के लिए शिक्षा प्रणाली को कैसे तब्दील किया जा सकता है। ऐतिहासिक सालामेंका घोषणा के अनुसार, "आदर्श रूप में देखें तो समावेशी शिक्षा, सीखने के माहौल में आने वाले अवरोधों को कम करके सभी शिक्षार्थियों की विविध जरूरतों को सम्बोधित करने और उन्हें पूरा करने की प्रक्रिया है।" श्रीमती रुक्मिणी कृष्णस्वामी, निदेशक, स्पास्टिक सोसायटी ऑफ कर्नाटक (एस.एस.के.), जब भी समावेशी शिक्षा के बारे में शिक्षकों और विशेष शिक्षकों को सम्बोधित करती हैं तो बड़ी खूबसूरती के साथ अपनी बात कहती हैं। वे कहती हैं," हर कक्षा के दरवाजे के पीछे विविधता से भरी एक दुनिया है। जब विशेष आवश्यकता वाले विद्यार्थी भी उस कक्षा के सदस्य बन जाते हैं तो विविधता और भी बढ़ जाती है, उनके अधिगम की जरूरतें अधिक गम्भीर और सशक्त हो सकती हैं जिससे शिक्षकों के सामने एक बड़ी चुनौती आकर खड़ी हो जाती है।" एस. एस.के. में हम विशेष रूप से ऐसे बच्चों का समावेशन करना चाहते हैं जो 6 से 14 आयु वर्ग के हैं और जिन्होंने स्कूल छोड़ दिया है या जिन्हें स्कूल से निकाल दिया गया है; विशेष जरूरतों वाले बच्चे और शिशु तथा सामाजिक–आर्थिक रूप से वंचित समूह जैसे अल्पसंख्यक, आदिवासी और अप्रवासी समूह के बच्चे।

Spastics Society of Karnataka

हालाँकि हम यह मानते हैं कि सभी विद्यार्थियों को सामान्य शिक्षा की प्रक्रिया में भाग लेना चाहिए लेकिन कोई भी कार्यक्रम या व्यवस्था सभी विद्यार्थियों की जरूरतों को पूरा नहीं कर सकती। जब हम 'असमर्थता' शब्द को सुनते हैं तो लगता है कि शारीरिक समस्याओं के बारे में बात हो रही है। शारीरिक, दृष्टि और श्रवण–सम्बन्धी असमर्थताएँ इतनी आम बातें नहीं हैं। जो असमर्थताएँ अक्सर देखने में आती हैं वे हैं–अधिगम अशक्तता, वाचिक व भाषा असमर्थता, व्यवहार विकार और मानसिक मन्दता। हमारा मानना तो यह है कि समावेशन से सभी विद्यार्थियों को लाभ होता है, उनमें कोई असमर्थता हो या न हो। कक्षा में समावेशन से सहिष्णुता, धैर्य और विविधता का मोल समझने की भावना सिखाई जा सकती है और इस प्रकार बड़े होने पर समावेशी समाज में जीवन–यापन करने के लिए विद्यार्थियों को तैयार किया जा सकता है।

यही कारण है कि कर्नाटक स्पास्टिक सोसायटी एक वट वृक्ष की तरह अपने कार्य में लगी हुई है जिसकी अनेक शाखाएँ हैं और जिसकी जड़ें मजबूती के साथ जमी हुई हैं। एस.एस.के., तन्त्रिकापेशीय और विकासात्मक असमर्थता से पीड़ित बच्चों के लिए नैदानिक और पुनर्वासन सम्बन्धी सेवाएँ प्रदान करती है और प्रमस्तिष्क घात, मानसिक मन्दता, स्वलीनता वर्णक्रम विकार, बहु असमर्थता और अधिगम असमर्थताओं पर विशेष रूप से ध्यान देती है। एस.एस.के. का फोकस इन बातों पर है–स्वतंत्रता और स्वयं की देखभाल करना, सम्प्रेषण, जीवन कौशल सम्बन्धी प्रशिक्षण; आवश्यकता के अनुसार शिक्षण देना और सबसे बड़ी बात यह कि बच्चों में दुनिया का सामना करने का आत्मविश्वास पैदा करना। वैसे तो यहाँ पूरक शिक्षण सामग्री की सहायता से बच्चे की क्षमता के अनुसार पाठ्यक्रम पर आधारित शिक्षा दी जाती है लेकिन साथ ही कई संवर्धन पूर्ण गतिविधियाँ भी करवाई जाती हैं जैसे संगीत, कला और क्राफ्ट तथा खेलकूद आदि।

राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान (एन.आई.ओ.एस.) धन्यवाद का पात्र है क्योंकि इसके समावेशी शिक्षा कार्यक्रम के कारण अब ऐसे बच्चे भी शिक्षा पा सकते हैं जो आर्थिक रूप से वंचित समूह के हैं और जो मुख्यधारा के स्कूल छोड़ चुके हैं। इस योजना के तहत कई विद्यार्थियों ने माध्यमिक और सीनियर माध्यमिक कोर्स पूरे कर लिए हैं और वे बेंगलूरु के मुख्य धारा के कॉलेजों जैसे क्राइस्ट कॉलेज, ज्योति निवास कॉलेज, जैन यूनिवर्सिटी और

The SSK team

गुडविल महिला कॉलेज में स्नातक स्तर की पढ़ाई करने में सफल रहे हैं। उपर्युक्त कॉलेजों ने एस.एस.के. की बहु–अनुशासनात्मक टीम को यह अवसर प्रदान किया कि वे स्टाफ और विद्यार्थियों को असमर्थता के बारे में सम्बोधित करें ताकि युवा पीढ़ी संवेदनशील बन सके और हमारे विशेष विद्यार्थी समुदाय के साथ जुड़ने में सशक्त बन सकें। हमारा एक ऐसा ही विशेष विद्यार्थी सम्प्रेषण में स्नातक स्तर की पढ़ाई कर रहा है; उसका कहना है कि "कॉलेज के पहले दिन मैं बहुत उत्साहित था। मैंने एक नई दुनिया में कदम रखा था, एक ऐसी दुनिया जहाँ मुख्यधारा के स्कूलों से विद्यार्थी कोर्स करने के लिए आए हुए थे, और मैं उनमें से एक था! मुझे यह कहने में बड़ा गर्व होता है कि मुझे जो आत्मविश्वास एस.एस.के. से मिला, उसकी वजह से मुझे इस स्तर तक पहुँचने में बहुत मदद मिली।" पिछले सालों में हमने कई ऐसे प्रतिभाशाली विद्यार्थियों को देखा है जो हमारे समाज में असमर्थता की जागरूकता जगाने वाले ब्रांड एंबेसडर बन गए हैं। और हाँ, हम विशेष आवश्यकता वाले बच्चों की क्षमता को अधिक से अधिक बढ़ाने की कोशिश में लगे हुए हैं और इसके लिए हम दैनिक जीवन के सभी पहलुओं में *"समावेशन"* लाने के कार्य में निरन्तर बड़ी जागरूकता और निष्ठा के साथ लगे हुए हैं।

एस.एस.के. में इतने वर्षों तक काम करने के दौरान हमने महसूस किया है कि समावेशी कक्षा और उसमें शिक्षण के प्रभावी तरीकों के लिए यह बहुत जरूरी है कि शिक्षक इन अन्तरों को समझें। यह उनके कौशल पर निर्भर करता है कि वे हर शिक्षार्थी को पाठ्यचर्या का ज्ञान कैसे कराते हैं। शोध संकेतित करते हैं कि कई शिक्षक यह महसूस करते हैं कि वे समावेशी कक्षाओं को पढ़ाने के लिए भली प्रकार से तैयार नहीं हैं और उनमें इस विश्वास की भी कमी होती

है कि वे समावेशी वातावरण में विशेष आवश्यकता वाले बच्चों को पढ़ाने के लिए सक्षम हैं। कई शिक्षक गम्भीर असमर्थताओं वाले बच्चों की तुलना में कम असमर्थ बच्चों को शामिल करने के लिए तैयार रहते हैं क्योंकि इससे उनके पूरी कक्षा को पढ़ाने के समग्र लक्ष्य को पाने में कम बाधा पड़ती है। जब कोई स्कूल अधिक समावेशी बनना चाहता है तब कुछ सम्भावित बाधाओं को भी पार करना पड़ता है जैसे मौजूदा नजरिया और मूल्य, समझ की कमी, अपेक्षित कौशलों की कमी और सीमित संसाधन। शिक्षकों को व्यवस्थित और गहन प्रशिक्षण की जरूरत है तथा उन्हें अविरत शिक्षा भी मिलनी चाहिए। कक्षा–कक्ष में सहायता करने के लिए अतिरिक्त स्टाफ, पाठ्यक्रम के पर्याप्त संसाधन और असमर्थता की जरूरतों को पूरा करने वाले उपकरणों का होना भी जरूरी है।

हर परिवार अपने बच्चों के बारे में दूसरों से बेहतर जानता है और अपने बच्चों के अधिगम में उसे सबसे ज्यादा रुचि होती है, इसलिए बच्चों के पूरे स्कूली जीवन की शिक्षा में परिवार को लगातार शामिल करते रहना चाहिए। हो सकता है कि ऐसी स्थितियाँ सामने आएँ जब माता–पिता और बच्चे की इच्छा में तालमेल न हो। उदाहरण के लिए माता–पिता अपने बच्चों के लिए मुख्यधारा वाली कक्षा पसन्द कर सकते हैं, लेकिन हो सकता है कि वे बच्चे अलग तरह का वातावरण या सेटिंग पसन्द करें क्योंकि उनके लिए ऐसे साथियों के साथ अन्तःक्रिया करना महत्त्वपूर्ण होता है जो उनकी समस्या समझते हैं। यह भी हो सकता है कि विद्यार्थी यह बात पसन्द न करें कि वे स्कूल में उनकी स्थिति एक विशेष बच्चे की है या उनमें कोई असमर्थता है। जब हम इन बातों को सन्तुलित करने का प्रयास करते हैं तो टकराव पैदा हो सकता है। विविधता का ठीक तरह से सामना करने के लिए, उससे निपटने के लिए बेहतर तरीकों की खोज को कभी खत्म न होने वाली प्रक्रिया मानना चाहिए। हमें यह सीखना है कि विविधताओं के साथ कैसे जिया जाए और इन विविधताओं से कैसे सीखा जाए।

पेशेवरों के बीच भूमिका सम्बन्धी स्पष्ट सम्बन्ध, सहायक स्टाफ का प्रभावी उपयोग और प्रभावशीलता के मूल्यांकन के लिए सार्थक व्यक्तिगत शिक्षा योजनाओं की प्रणाली (Individual Education Plans - IEPs) आज की आवश्यकताएँ हैं। पाठ्यचर्या अभिगम के लिए शिक्षा में एक साधन के रूप में सहायक तकनीकी का प्रयोग हाल ही में विकसित दृष्टिकोण है जो तेजी से बढ़ रहा है। तकनीकी के क्षेत्र में निरन्तर हो रही प्रगति से समावेशी कक्षा में इसके अनुप्रयोग का विस्तार करने में मदद मिलेगी।

अन्त में, जब हम समावेशी शिक्षा की बात करते हैं तो उसमें समाज की भूमिका को कम नहीं माना जा सकता। समावेशन की प्रक्रिया के साथ जुड़ने और संवाद करने के लिए एस.एस.के. समुदायों, निगमों और गैर लाभकारी संस्थाओं के साथ काम करती है। अगर इस बात को मान्यता दिलवानी है कि शिक्षा के क्षेत्र में समावेशन समाज में समावेशन का एक महत्त्वपूर्ण पहलू है तो एक तरफ तो हमें संस्कृतियों, पाठ्यचर्या और समुदायों में विद्यार्थियों के बहिष्करण को कम करना होगा, स्कूल के भीतर और बाहर नीतियों एवं कार्यविधियों का पुनर्गठन करना होगा ताकि वे अपने इलाके में विद्यार्थियों की विविधता को समझ सकें तथा दूसरी तरफ इन सब कार्यों में विद्यार्थियों की भागीदारी बढ़ानी होगी।

विजया महादेवन ने 20 वर्षों तक मुख्यधारा के स्कूलों में एक शिक्षिका के रूप में काम करने के बाद 2006 से कर्नाटक स्पास्टिक सोसायटी में अध्यापन शुरू किया। यहाँ पर वे माध्यमिक और सीनियर माध्यमिक कक्षाओं में शिक्षण करती हैं और मुक्त विद्यालयी शिक्षा पर विशेष ध्यान देती हैं। वे एस.एस.के. की निदेशक श्रीमती रुक्मिणी कृष्णस्वामी, एच.आर.डी.टी. की विभागाध्यक्षा डॉ. हेमा कृष्णमूर्ति, लर्नर्स सेण्टर की प्राचार्या कैराली नायर और एस.एस.के. के अन्य सहयोगियों के इनपुटों के लिए उनका आभार प्रकट करती हैं और उन्हें धन्यवाद देती हैं। उनसे vijaya.mahadevan@gmail.com पर सम्पर्क किया जा सकता है। एस.एस.के. पर अधिक जानकारी के लिए http://www.spasticssocietyofkarnataka.org/ पर सम्पर्क करें। **अनुवाद** : नलिनी रावल

अगला अंक

उत्पादक काम बनाम शिक्षणशास्त्र

Earlier Issues of the Learning Curve may be downloaded from **http://teachersofindia.org/en/periodicals/learning-curve** or **http://azimpremjifoundation.org/Foundation_Newsletters** or **http://www.azimpremjiuniversity.edu.in/content/publications**

No. 134, Doddakannelli
Next to Wipro Corporate Office
Sarjapur Road, Bangalore - 560 035. India
Tel: +91 80 6614 4900/01/02   Fax: +91 80 6614 4903
E-mail: learningcurve@azimpremjifoundation.org
www.azimpremjifoundation.org

Also visit Azim Premji University website at
www.azimpremjiuniversity.edu.in
and
Teachers of India portal at
www.teachersofindia.org

Azim Premji University

A publication from
Azim Premji University

For suggestions or comments and to share your views or personal experiences, do write to us at **learningcurve@azimpremjifoundation.org**